वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

विवेक • ज्योति

वर्ष ४६ अंक ३ मार्च २००८

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखःभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २००८

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक ३

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २७५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए – रु. ४००/-
विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)
{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)
दूरभाष: ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(२७ वीं तालिका)

११२०. श्री के.सी. गुप्ता, गुलमोहर एक्सटेंसन इन्दौर (म.प्र)
११२१. श्री राजेश चन्द्र सिंह, मोटेरा, अहमदाबाद (गुज.)
११२२. श्रीमती हेमा तिवारी, तिलक नगर एक्स., इन्दौर (म.प्र.)
११२३. श्री विजय सिंह, सिविल लाइन्स, कोटा (राजस्थान)
११२४. श्री भँवरलाल पालीवाल, धयाला, राजसमन्द (राज.)
११२५. श्री यज्ञप्रदीप गुप्ता, १४६ सर्वे नगर, नागपुर (महा.)
११२६. श्री बृजलाल फबवानी, गुजराती बाजार, सागर (म.प्र.)
११२७. रामकृष्ण मिशन फ्री टी.बी. क्लीनिक, नई दिल्ली
११२८. श्री सुभाष कुमार, बी.वी. कॉलेज, पटना (बिहार)
११२९. श्री विनोद आर. नल्लमवार, प्रताप नगर, वर्धा (महा.)
११३०. श्री चन्द्रप्रकाश शर्मा, मीरा दातार रोड, रायपुर (छ.ग.)
११३१. माँ भावमयी पुरी, कल्याण आश्रम, लक्षेश्वर, उत्तरकाशी
११३२. श्री अर्जुन यादव, मैत्री नगर, रिसाली, भिलाई (छ.ग.)
११३३. श्री पंकज कुमार सिंह, गंगाजल वार्ड, सहरसा (बिहार)
११३४. श्री चन्दूलाल साहू, शिवाजी चौक, राजिम, रायपुर (छ.ग.)
११३५. स्वामी सत्यानन्द, तपोवन आश्रम, उना, जूनागढ़ (गुज.)
११३६. श्री देवेन्द्र कुमार त्रिवेदी, वन्दना नगर मेन, इन्दौर (म.प्र.)
११३७. श्री अजीत देशवाल, ४१५, से. ४०, गुड़गाँव (हरियाणा)
११३८. श्री हरिशंकर शर्मा, सुभाष कॉलोनी, चित्तौड़गढ़ (राज.)
११३९. डॉ. पूर्णेन्द्र सक्सेना, मोती बाग, रायपुर (छ.ग.)
११४०. डॉ. कु. दीपा बुधवानी, स्टेशन रोड, दमोह (म.प्र.)
११४१. श्री रमेश चन्द्र गाँधी, कामठी लाइन, राजनाँदगाँव (छ.ग.)
११४२. श्री हरीश मेहता, १८४, विकास नगर, भिवाणी (हरियाणा)
११४३. श्री सोनकर लाल वर्मा, मुनागी, रायपुर (छ.ग.)
११४४. सुश्री अमृता डे, लोक धारा, कल्याण (पूर्व), (महा.)
११४५. श्री चरण सिंह साहू, समता कॉलोनी, रायपुर (छ.ग.)
११४६. श्री देवनाथ साहू, तोड़गाँव, गोढ़ी, जिला- रायपुर (छ.ग.)
११४७. श्री हनुमान प्रसाद साहू, भथेली, भाखरा, धमतरी (छ.ग.)
११४८. श्री प्रफुल्ल पाण्डेय, ई-३, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी (उ.प्र.)
११४९. ठा. महाराज सिंह शा. महाविद्या., थान खम्हरिया, दुर्ग
११५०. श्री राजीव सेलत, जुहू स्कीम, विले पार्ले, मुम्बई (महा.)
११५१. श्री ए. के. श्रीवास्तव, अधिवक्ता सुप्रीमकोर्ट, नई दिल्ली
११५२. श्री सन्तोष कुमार गड़ोदिया, शिवपुर, वाराणसी (उ.प्र.)
११५३. श्री दीनदयाल उमेश कुमार, तितलागढ़, बलांगीर (उड़ीसा)
११५४. श्री शुभम् बक्शी, हाउसिंग बोर्ड कालोनी, दमोह (म.प्र.)
११५५. श्री रामगोपाल शर्मा, न्यू सागानेर रोड, जयपुर (राज.)
११५६. श्रीमती अंजू गड़ोदिया, शिवपुर, वाराणसी (उ.प्र.)
११५७. श्री सुरेश पमनानी,न्यू बस स्टेण्ड, बिलासपुर (छ.ग.)
११५८. कुमारी श्याम उसेंडी, सरगीपाल, बस्तर (छ.ग.)
११५९. श्री ओम प्रकाश गुप्ता, बाग मुगलिया एक्स., भोपाल

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये **'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय'** को लिखें।

वर्ष ४६ मार्च २००८ अंक ३

वैराग्य-शतकम्

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतस्वान्तसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ।।९९।।

अन्वय – येषां पाणिः पवित्रं पात्रं भ्रमण-परिगतं भैक्षम् अक्षय्यम् अन्नं आशा-दशकं विस्तीर्णं वस्त्रम् अस्वल्पम् उर्वी अचपलं तल्पम् निःसङ्गता-अङ्गीकरण-परिणत-स्व-अन्त-संतोषिणः संन्यस्त-दैन्य-व्यतिकर-निकराः ते धन्याः कर्म निर्मूलयन्ति ।

अर्थ – जिनके हाथ ही पवित्र भोजन-पात्र हैं; भ्रमण द्वारा प्राप्त होनेवाली भिक्षा ही जिनका अक्षय अन्न-भण्डार है; चारों ओर फैली दशों दिशाएँ ही जिनके पहनने का वस्त्र है; सुस्थिर पृथ्वी ही जिनकी विशाल शय्या है; अनासक्ति के अभ्यास के फलस्वरूप जिनका चित्त सन्तोष से परिपूर्ण है; जिन्होंने दीनता का भाव तथा संसार के अनेकविध सम्बन्धों का त्याग कर दिया है; ऐसे लोग धन्य हैं, क्योंकि उन्होंने अपने (सभी जन्मों के) समस्त कर्मों (तथा उनके फलों) का समूल नाश कर दिया है ।

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः ।
युष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतस्फारस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ।।१००।।

अन्वय – मातः मेदिनि तात मारुतः सखे तेजः सु-बन्धो जल भ्रातः व्योम भवताम् अन्त्यः प्रणाम-अञ्जलिः निबद्ध एव । युष्मत्-सङ्ग-वश-उपजात-सुकृत-स्फार-स्फुरत् निर्मल-ज्ञान अपास्त-समस्त-मोह-महिमा परब्रह्मणि लीये ।

अर्थ – हे माता पृथ्वी ! हे पिता वायु ! हे मित्र अग्नि ! हे बन्धु जल ! हे भाई आकाश ! मैं अपने दोनों हाथ जोड़कर आप सबको अपना अन्तिम प्रणाम ज्ञापित करता हूँ । आप लोगों के पूत संग से उत्पन्न पुण्य के फलस्वरूप मुझे प्राप्त होनेवाले अति निर्मल ज्ञान से मेरी सारी मोह-माया (अज्ञान) दूर हो गयी है; अत: अब मैं परब्रह्म परमात्मा में लीन होने जा रहा हूँ ।

– भर्तृहरि

चार कुण्डलियाँ

(कुछ प्रचलित उक्तियों तथा दोहों पर रचित)

– १ –

भोग न पाये जगत् को, दूर मुक्ति का धाम।
दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम।।

माया मिली न राम, चित्त में श्रद्धा लाओ।
सुदृढ़ करो वैराग्य, साधना में लग जाओ।।

कह 'विदेह' यह जन्म, देखना व्यर्थ न जाये।
प्रभु को पा लो, विषय निरर्थक भोग न पाये।।

– २ –

बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।
माँगो मत, देते रहो, यह सन्तों की सीख।।

यह सन्तों की सीख, कभी मत हाथ पसारो।
अपना तन-मन-धन, परहित निमित्त दे डारो।।

कह 'विदेह' इस विधि चरित्र का फूल खिले।
योग्य बनो तो, बिन माँगे मोती मिले।।

– ३ –

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
जो डूबन से डर गया, रहा किनारे बैठ।।

रहा किनारे बैठ, न कुछ जीवन में पाया।
करते टाल-मटोल, व्यर्थ ही आयु गँवाया।।

कह 'विदेह' निज कमर बाँधकर तत्पर हो जा।
पाये मणि-मुक्ता, जिसने डुबकी ले खोजा।।

– ४ –

सभी सुखों का मूल है कल्पवृक्ष सत्संग।
चित्त-बुद्धि निर्मल करे, सत्वर हो भवभंग।।

सत्वर हो भवभंग, मार्ग यह परमारथ का।
यही सारथी है, साधक के जीवन-रथ का।।

कह 'विदेह' यह नाश करे तीनों दुःखों का।
क्षण भर का सत्संग, मूल है सभी सुखों का।।

भारत का इतिहास : पतन के कारण

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

चिरन्तन भारत

पश्चिम में आने से पहले मैं भारत से केवल प्रेम ही करता था, परन्तु अब (विदेश से लौटते समय) मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की धूलि तक मेरे लिये पवित्र है, भारत की हवा तक मेरे लिये पावन है, भारत अब मेरे लिये पुण्यभूमि है, तीर्थस्थान है।[१९]

हम सभी भारत के पतन के बारे में काफी कुछ सुनते हैं। कभी मैं भी इस पर विश्वास करता था। मगर आज अनुभव की दृढ़ भूमि पर खड़े होकर, दृष्टि को पूर्वाग्रहों से मुक्त करके और सर्वोपरि अन्य देशों के अतिरंजित चित्रों को प्रत्यक्ष रूप से उचित प्रकाश तथा छायाओं में देखकर, मैं बड़ी विनम्रता के साथ स्वीकार करता हूँ कि मैं गलत था। हे आर्यों के पावन देश! तू कभी पतित नहीं हुआ। राजदण्ड टूटते रहे और फेंके जाते रहे, शक्ति की गेंद एक हाथ से दूसरे में उछलती रही, पर भारत में दरबारों तथा राजाओं का प्रभाव सदा अल्प लोगों को ही छू सका – उच्चतम से निम्नतम तक जनता की विशाल राशि अपनी अनिवार्य जीवन-धारा का अनुसरण करने के लिये मुक्त रही है, और राष्ट्रीय जीवन-धारा कभी मन्द व अर्द्ध चेतन गति से और कभी प्रबल व प्रबुद्ध गति से प्रवाहित होती रही है। मैं उन बीसों ज्योतिर्मय सदियों की अटूट श्रृंखला के सम्मुख विस्मयाकुल खड़ा हूँ, जिनके बीच यहाँ-वहाँ एकाध धूमिल कड़ी है, जो अगली कड़ी को और भी अधिक ज्योतिर्मय बना देती है और इनके बीच मेरी यह जन्मभूमि – पशु-मानव को देव-मानव में रूपान्तरित करने के अपने यशोपूरित लक्ष्य को पाने हेतु – जिसे धरती या आकाश की कोई शक्ति रोक नहीं सकती – अपने सहज महिमामय पदक्षेप के साथ अग्रसर हो रही है।[२०]

हे मेरे देशवासियो, मेरे मित्रो, मेरे बच्चो, राष्ट्रीय जीवनरूपी यह जहाज लाखों लोगों को जीवनरूपी समुद्र के पार करता रहा है। कई शताब्दियों से इसका यह कार्य चल रहा है और इसकी सहायता से लाखों आत्मायें, इस सागर के उस पार अमृतधाम में पहुँची हैं। पर आज शायद तुम्हारे ही दोष से इस पोत में कुछ खराबी आ गई है, इसमें एक-दो छेद हो गये हैं, तो क्या तुम इसे कोसोगे? संसार में जिसने तुम्हारा सर्वाधिक उपकार किया है, उसके विरुद्ध खड़े होकर उस पर गाली बरसाना क्या तुम्हारे लिये उचित है? यदि हमारे इस समाज में, इस राष्ट्रीय जीवनरूपी जहाज में छेद है, तो हम तो उसकी सन्तान हैं। आओ चलो, उन छेदों को बन्द कर दें – उसके लिये हँसते-हँसते अपने हृदय का रक्त बहा दें। और यदि हम ऐसा न कर सकें, तो हमें मर जाना ही उचित है। हम अपना भेजा निकालकर उसकी डाट बनायेंगे और जहाज के उन छेदों में भर देंगे। पर मुख से कभी उसकी भर्त्सना न करो? इस समाज के विरुद्ध एक कड़ा शब्द तक न निकालो। इसके अतीत की गौरव-गरिमा के लिये मेरा उस पर प्रेम है। मैं तुम सबको प्यार करता हूँ, क्योंकि तुम देवताओं की सन्तान हो, महिमाशाली पूर्वजों के वंशज हो। तब भला मैं तुम्हें कैसे कोस सकता हूँ? यह असम्भव है। तुम्हारा सब प्रकार से मंगल हो। ऐ मेरे बच्चो, मैं अपनी सारी योजनायें तुम्हारे सामने रखने के लिये तुम्हारे पास आया हूँ। यदि तुम उन्हें सुनो, तो मैं तुम्हारे साथ काम करने को तैयार हूँ। पर यदि तुम उनको न सुनो, और मुझे ठुकराकर अपने देश के बाहर भी निकाल दो, तो भी मैं तुम्हारे पास वापस आकर यही कहूँगा, "भाई, हम सब डूब रहे हैं। मैं आज तुम्हारे बीच बैठने आया हूँ। और यदि हमें डूबना है, तो आओ, हम सब साथ ही डूबें, पर एक भी कटु शब्द हमारे ओठों पर न आने पाये।"[२१]
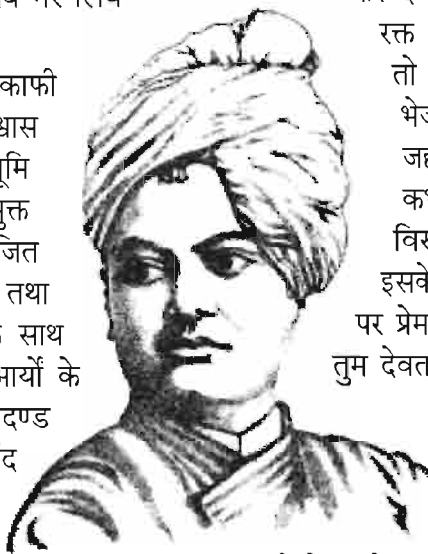
हे भारत, मत भूलना

ऐ भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिये – अपने व्यक्तिगत सुख के लिये नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिये बलिस्वरूप रखे गये हो; मत भूलना कि तुम्हारा समाज उस विराट् महामाया की छाया मात्र है; मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, बोलो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी,

ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी – सब मेरे भाई हैं; तुम भी कटिमात्र में वस्त्र लपेटकर गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरा पालना, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्धक्य की वाराणसी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है, और रात-दिन कहते रहो कि 'हे गौरीनाथ ! हे जगदम्बे ! मुझे मनुष्यत्व दो; माँ, मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ।'[२२]

हमारे राष्ट्रीय पतन के कारण

आम जनता की उपेक्षा राष्ट्रीय महापाप है

मैं समझता हूँ कि हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप जनसमुदाय की उपेक्षा है, और वह भी हमारे पतन का एक कारण है।[१]

वे लोग जो किसान हैं; वे मछुवारे, जुलाहे, जो भारत के नगण्य मनुष्य हैं, विजाति-विजित स्वजाति-निन्दित छोटी-छोटी जातियाँ हैं, वे ही लगातार चुपचाप काम किये जा रही हैं, अपने परिश्रम का फल भी नहीं पा रही हैं।[२]

भारत के दरिद्रों, पतितों और पापियों का कोई साथी नहीं, कोई सहायता देनेवाला नहीं – वे चाहे जितनी भी कोशिश क्यों न करें, उनकी उन्नति का कोई उपाय नहीं। वे दिन-पर-दिन डूबते जा रहे हैं। क्रूर समाज उन पर जो लगातार चोटें कर रहा है, उसका अनुभव तो वे खूब कर रहे हैं, पर वे जानते नहीं कि ये चोटें कहाँ से आ रही हैं।[३]

भारत की सारी बुराइयों की जड़ है – गरीबों की दुर्दशा। ... पुरोहिती शक्ति और विदेशी विजेतागण सदियों से उन्हें कुचलते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप भारत के गरीब बेचारे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं।[४]

जनता पर अत्याचार – इतिहास के साक्ष्य

प्राचीन भारत अनेक शताब्दियों तक ब्राह्मण और क्षत्रिय – अपनी इन दो प्रधान जातियों की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये एक युद्धक्षेत्र बना रहा।

एक ओर पुरोहितगण आम जनता पर उन क्षत्रियों के अन्यायपूर्ण सामाजिक अत्याचार के विरुद्ध थे – जो प्रजा को अपने धर्मसंगत खाद्य के रूप में देखा करते थे – और दूसरी ओर भारत की एकमात्र शक्ति-सम्पन्न क्षत्रिय जाति ने जनता को पुरोहितों के धार्मिक अत्याचार से बचाने तथा उनके निरन्तर बढ़ते हुये कर्मकाण्डों से छुड़ाने के लिये कमर कसी थी। इसमें क्षत्रियों को कुछ हद तक सफलता भी मिली थी।

यह संघर्ष हमारे इतिहास के एकदम प्रारम्भिक काल से ही शुरू हुआ था। सारे वेदों से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। जब क्षत्रियों तथा ज्ञानकाण्ड के नेता श्रीकृष्ण ने समन्वय का मार्ग दिखलाया, तो कुछ समय के लिये यह विरोध कम हो गया। इसका परिणाम है गीता की शिक्षा – जो दर्शन, उदारता तथा धर्म का सार-स्वरूप है। मगर संघर्ष का कारण तब भी विद्यमान था, अत: उसका परिणाम अनिवार्य था।

निर्धन तथा अशिक्षित जनता पर प्रभुत्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा इन दोनों जातियों में विद्यमान थी, अत: संघर्ष फिर भयानक हो उठा। उस काल का थोड़ा-बहुत साहित्य जो उपलब्ध है, वह प्राचीन काल के उसी प्रबल संघर्ष की क्षीण प्रतिध्वनि मात्र है। पर अन्त में क्षत्रियों की विजय हुई, ज्ञान की जीत हुई, स्वाधीनता की जीत हुई; कर्मकाण्डों को नीचा देखना पड़ा और उसका अधिकांश सदा के लिये विदा हो गया। यह वही क्रान्ति थी, जिसे हम बौद्ध सुधारवाद के नाम से जानते हैं। धर्म की दृष्टि से यह कर्मकाण्ड के हाथों से मुक्ति का सूचक है और राजनीति के दृष्टिकोण से यह क्षत्रियों के हाथों पुरोहितों का पराभव सूचित करता है।

यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन भारत ने जिन दो सर्वश्रेष्ठ पुरुषों को जन्म दिया था – कृष्ण और बुद्ध – दोनों ही क्षत्रिय हैं। और यह उससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात है कि इन दोनों ही देव-मानवों ने लिंग- तथा जाति पर आधारित भेद को न मानकर सबके लिये ज्ञान का द्वार उन्मुक्त कर दिया था।

बौद्ध धर्म में अद्भुत नैतिक बल विद्यमान होने पर भी, वह अतीव ध्वंसात्मक था। उसकी अधिकांश शक्ति नकारात्मक प्रयासों में ही व्यय हो जाने के कारण उसे अपनी जन्मभूमि में ही अपना विनाश देखना पड़ा; और उसका जो कुछ बाकी रहा, वह जिन अन्धविश्वासों तथा कर्मकाण्डों के निवारण हेतु नियोजित किया गया था, उनसे भी सैकड़ों गुना अधिक बीभत्स था।

इस प्रकार मनुष्य-देह धारण करनेवाले में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति – स्वयं भगवान बुद्ध द्वारा परिचालित संजीवनी-शक्ति-प्रवाह भी एक दुर्गन्धमय रोग-कीटाणु-पूर्ण क्षुद्र गन्दे जलाशय में बदल गया। तब भारत को भी अनेक शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, जब तक कि भगवान शंकर और उनके कुछ ही समय बाद रामानुज तथा मध्वाचार्य आविर्भूत नहीं हुए।

इसके फलस्वरूप भारत में वेदों का पुनरभ्युदय हुआ – वेदान्त का ऐसा प्रबल पुनरुत्थान हुआ, जैसा भारत ने इसके पूर्व कभी नहीं देखा था; यहाँ तक कि गृहस्थाश्रमी भी आरण्यकों के अध्ययन में संलग्न हो गये।

बौद्ध आन्दोलन में वस्तुत: क्षत्रियगण ही नेता थे और उन्होंने बड़ी संख्या में बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। सुधार तथा धर्म-परिवर्तन के उत्साह में संस्कृत भाषा उपेक्षित हो गयी और केवल लोक-भाषाओं का ही विकास होने लगा।

अधिकांश क्षत्रिय वैदिक साहित्य तथा संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र से अलग हो गये। अत: दक्षिणात्यों से यह जो सुधार-तरंग उत्थित हुई, उससे कुछ सीमा तक केवल पुरोहितों का ही उपकार हुआ, पर भारत की शेष कोटि-कोटि जनता के पैरों में उसने पहले से भी अधिक शृंखलाएँ डाल दीं।

क्षत्रियगण सदा से ही भारत का मेरुदण्ड रहे हैं, अत: वे ही विज्ञान और स्वतंत्रता के चिर रक्षक हैं। देश से अन्धविश्वासों को हटा देने के लिये चिरकाल से ही उनकी वाणी प्रतिध्वनित हुई है और भारत के इतिहास के आदि से अन्त तक पुरोहितों के अत्याचार से साधारण जनता की रक्षा करने के लिये वे स्वयं एक अभेद्य दीवार की भाँति खड़े रहे हैं।

जब उनमें से अधिकांश घोर अज्ञानता में निमग्न हो गये और बचे-खुचों ने मध्य एशिया की जंगली जातियों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित करके भारत में पुरोहितों की शक्ति दृढ़ करने के लिये तलवार उठा ली, तब भारत के पाप का प्याला लबालब भर गया और भारत-भूमि एकदम नीचे डूब गयी। इससे भारत का उद्धार तब तक नहीं होगा, जब तक कि क्षत्रियगण स्वयं न जागेंगे तथा स्वयं को मुक्त करके बाकी लोगों के पैरों से जंजीरों को न खोल देंगे।[५]

राष्ट्र डूब रहा है। करोड़ों प्राणियों का शाप हमारे सिर पर है, ... जिन असंख्य करोड़ों लोगों को हमने अद्वैतवाद का तत्त्व सुनाया और जिनसे तीव्र घृणा की, जिनके विरोध में हमने लोकाचार का आविष्कार किया, जिन्हें हमने मुख से तो कहा कि सब बराबर हैं, सब एक ब्रह्म ही हैं, परन्तु इस उक्ति को काम में लाने का तिल मात्र भी प्रयत्न नहीं किया।[६]

धर्म के नाम पर जन-शोषण

पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म जैसा इतने उच्च स्वर में मानवता के गौरव का उपदेश देता हो और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और निम्न जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोटता हो।[७]

यह रोना-धोना मचा है कि हम बड़े गरीब हैं, पर गरीबों की सहायता के लिये कितनी दानशील संस्थायें हैं? भारत के करोड़ों अनाथों के लिये कितने लोग रोते हैं? हे भगवान! हम लोग भी क्या मनुष्य हैं? तुम लोगों के घरों के चारों ओर जो पशुवत् भंगी-डोम हैं! उनकी उन्नति के लिये क्या कर रहे हो? उनके मुख में एक ग्रास अन्न देने के लिये क्या करते हो? बताओ न। तुम उन्हें छूते भी नहीं और उन्हें 'दुर-दुर' कहकर भगा देते हो! क्या हम मनुष्य हैं? वे हजारों साधु-ब्राह्मण भारत की नीच-दलित-दरिद्र जनता के लिये क्या कर रहे हैं? बस 'मत छू', 'मत छू' की रट ही तो लगाते हैं! ऐसे सनानत धर्म कैसा सन्यानाश कर डाला है! अब धर्म कहाँ है? केवल छुआछूत में – मुझे छुओ मत, छुओ मत![८]

पुरोहिती प्रपंच ही भारत के पतन का मूल कारण है। मनुष्य अपने भाई को पतित बनाकर क्या स्वयं पतित होने से बच सकता है?... राजन्, स्मरण रखिये, आपके पूर्वजों द्वारा आविष्कृत सत्यों में सर्वश्रेष्ठ सत्य है – इस ब्रह्माण्ड का एकत्व। क्या कोई व्यक्ति स्वयं का किसी प्रकार अनिष्ट किये बिना दूसरों को हानि पहुँचा सकता है? ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के ये ही अत्याचार चक्रवृद्धि ब्याज के साथ अब स्वयं उन्हीं के सिर पर आ पड़े हैं और यह हजारों वर्ष की पराधीनता तथा पतन निश्चय ही उन्हीं के कर्मों के अनिवार्य फल है।[९]

एक अन्य कारण – शिक्षा पर एकाधिकार

भारत के सत्यानाश का मुख्य कारण यही है कि देश की सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि; राज-शासन और दम्भ के बल से मुट्ठी भर लोगों के एकाधिकार में रखी गयी।[१०]

पूर्व तथा पश्चिम में सारा अन्तर यह है कि उनमें राष्ट्रीयता की भावना है, हम लोगों में नहीं है, अर्थात् वहाँ सभ्यता तथा शिक्षा का प्रसार व्यापक है, आम जनता में व्याप्त है। भारत और अमेरिका में उच्च वर्ग के लोग समान हैं, परन्तु दोनों देशों के निम्न वर्गों में जमीन-आसमान का फर्क है। अंग्रेजों के लिये भारत को जीतना इतना आसान क्यों सिद्ध हुआ? इसलिये कि वे एक राष्ट्र हैं, हम नहीं। जब हमारा कोई महापुरुष गुजर जाता है, तो अगले महापुरुष के लिये हमें सैकड़ों वर्ष बैठे रहना पड़ता है; और ये अमेरिकी लोग उनका सर्जन उसी अनुपात में कर सकते हैं, जिस अनुपात में उनकी मृत्यु होती है। ... यहाँ महापुरुषों का अभाव है। ऐसा क्यों? क्योंकि महापुरुषों के चुनाव के लिये उनके पास बहुत बड़ा क्षेत्र है, जबकि हमारे पास, बहुत ही छोटा। तीन, चार या छह करोड़ लोगों के राष्ट्रों की अपेक्षा तीस करोड़ लोगों के राष्ट्र के पास अपने महापुरुषों के चुनाव के लिये क्षेत्र सबसे छोटा है। क्योंकि उन राष्ट्रों में शिक्षित नर-नारियों की संख्या बहुत अधिक है। ...यही हमारे देश का बहुत बड़ा दोष है और हमें इसे दूर करना ही होगा।[११]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१९. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९), खण्ड ५, पृ. २०३; **२०**. वही, खण्ड ९, पृ. २९९; **२१**. वही, खण्ड ५, पृ. १२२-३; **२२**. वही, खण्ड ९, पृ. २२८; **हमारे पतन के कारण** **१**. वही, खण्ड ४, पृ. २६०; **२**. वही, खण्ड ८, पृ. १८८-८९; **३**. वही, खण्ड १, पृ. ४०२; **४**. वही, खण्ड २, पृ. ३६९; **५**. वही, खण्ड ९, पृ. ३५३-५६; **६**. वही, खण्ड ५, पृ. ३२१; **७**. वही, खण्ड १, पृ. ४०३; **८**. वही, खण्ड २, पृ. ३१६; **९**. वही, खण्ड ९, पृ. ३५६; **१०**. वही, खण्ड ६, पृ. ३१०-११; **११**. वही, खण्ड २, पृ. ३६५

सच्ची भक्ति क्या है?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हम अपने पूजाघर में बैठकर भगवान् का भजन करते हैं, और सोचते हैं कि हम भक्त हैं। हम मन्दिर में बैठकर भजन-कीर्तन करते हैं और हमें लगता है कि हम भक्त हैं। लोगों के साथ मिलकर हम धार्मिक आयोजन करते हैं और हम समझते हैं कि हम भक्त हैं। ये सब धारणाएँ सही हैं, पर भक्ति की एक और भी अवस्था है, जिसे सही मायने में सच्ची भक्ति कहा जा सकता है। और वह है – ईश्वर को पूजाघर, मन्दिर और धार्मिक आयोजनों के बाहर भी देखना। यदि यह सही है कि यह जगत् ईश्वर से ही निकला है और उसी में स्थित है, तब इस संसार में ऐसा कुछ नहीं है, जो ईश्वर से रहित हो। संसार में सर्वत्र वही ईश्वर रमा है और उसकी भक्ति जैसे पूजाघर, मन्दिर और धार्मिक आयोजनों के माध्यम से की जा सकती है, वैसे ही अपने हर कर्म के माध्यम से भी। इस प्रकार सच्ची भक्ति की अवस्था वह है, जहाँ हमारा हर काम भगवान की पूजा बन जाता है।

गीता में अर्जुन को सारा उपदेश देने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण उपसंहार करते हुए कहते हैं -

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

– अर्थात् ''अपने अपने कर्म में लगे रह कर मनुष्य परम सिद्धि को पा लेता है। अपने कर्म में लगे रहकर वह किस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है, वह उपाय तू मुझसे सुन। जिस सत्ता से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने कर्म द्वारा पूजा कर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।''

जब व्यक्ति का हर कर्म भगवान् की पूजा बन जाता है, तब उसके लिए मन्दिर और प्रयोगशाला में भेद नहीं रह जाता। भगिनी निवेदिता स्वामी विवेकानन्द के समग्र ग्रंथ, जो हिन्दी में 'विवेकानन्द-साहित्य' के नाम से प्रकाशित हुए हैं, की भूमिका में लिखती हैं – ''यदि एक और अनेक सचमुच एक ही सत्य की अभिव्यक्तियाँ हैं, तो केवल उपासना के ही विविध प्रकार नहीं वरन् सामान्य रूप से कर्म के भी सभी प्रकार, संघर्ष के भी सभी प्रकार, सर्जन के भी सभी प्रकार, सत्य-साक्षात्कार के मार्ग हैं। अतः लौकिक और धार्मिक में अब आगे कोई भेद नहीं रह जाता। कर्म करना ही उपासना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग है। स्वयं जीवन ही धर्म है।''

वे आगे लिखती हैं – ''स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति है, जिसने उन्हें उस कर्म का महान् उपदेष्टा सिद्ध किया, जो ज्ञान-भक्ति से अलग नहीं, वरन् उन्हें अभिव्यक्त करने वाला है। उनके लिए कारखाना, अध्ययन-कक्ष, खेत और क्रीड़ाभूमि आदि भगवान् के साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान हैं, जैसे साधु की कुटी या मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरुष तथा श्रद्धा, सच्चे नैतिक बल और आध्यात्मिकता में कोई अन्तर नहीं है। ... एक बार उन्होंने कहा था, ''कला, विज्ञान एवं धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं'।'' अस्तु।

विदेशों की यात्रा से लौटने के बाद रामेश्वरम् के मन्दिर में भाषण देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा था - ''वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-सुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच -नीच के भेदभाव के, यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे।''

आगे उन्होंने कहा था – ''जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है, उसे अपने भाइयों की सेवा सबसे पहले करनी चाहिए। इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उसकी सन्तान की, विश्व के प्राणिमात्र की पहले सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में भी कहा गया है कि जो भगवान के दासों की सेवा करता है, वही भगवान् का सर्वश्रेष्ठ दास है।''

यही सच्ची भक्ति का स्वरूप है। ❖❖❖

श्री हनुमत्-चरित्र (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

महाबीर बिनवऊँ हनुमाना ।
राम जासु जस आप बखाना ।। १/१७/१०
प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन ।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर ।। १/१७

– मैं श्री महावीर हनुमानजी से विनती करता हूँ, जिनके यश का स्वयं श्रीराम ने ही बखान किया है। पवनपुत्र हनुमानजी को मेरा प्रणाम है, जो दुष्टरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान हैं और जिनके हृदयरूपी भवन में धनुष-बाण धारण किये श्रीराम निवास करते हैं।

भगवान राम के चरित्र में श्रीहनुमानजी की भूमिका सामने आती है। बालि और सुग्रीव दोनों भाई हैं, उन दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था, पर एक ऐसी घटना हुई कि उनके हृदय में विरोध की भावना उत्पन्न हो गई। मायावी नाम का एक दैत्य था, उसने यह सोचा कि रावण को परास्त करने वाले, रावण को हरानेवाले बालि को यदि मैं हरा दूँ तो विश्व यह स्वीकार कर लेगा कि मैं तो रावण और बालि, दोनों से भी बड़ा हूँ। उसने यह सोचा कि दिन में तो बन्दरों में शक्ति होती है, पर रात्रि के समय उनका बल नष्ट हो जाता है या रात्रि के अँधेरे में वे पूरी शक्ति से कार्य नहीं कर सकते। उसने आधी रात के समय आकर बालि को चुनौती दी। बालि तो अहंकार का एक जीता-जागता स्वरूप था। उस मायावी ने जब देखा कि बालि तो लड़ने के लिए चला आ रहा है, तो वह भागा। बालि ने उसका पीछा किया। उसके बाद वह मायावी एक पर्वत की गुफा में पैठ गया। पर बालि ने वहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ा और जब वह गुफा में भीतर घुसने लगा, तो उसने सुग्रीव से कहा कि तुम बाहर खड़े रहो, तुम्हें भीतर जाने की आवश्यकता नहीं है। यदि पन्द्रह दिन में मैं लौटकर न आऊँ, तो समझ लेना कि मेरी मृत्यु हो गई है। सुग्रीव ने वहाँ पर एक महीने तक प्रतीक्षा की। परन्तु बालि तो नहीं निकला, पर गुफा से खून की धारा निकली। सुग्रीव को लगा कि सम्भवत: उस दैत्य ने हमारे बड़े भाई को मार दिया है, और उसी का यह रक्त बहकर आ रहा है। उसको लगा कि जब उसने बालि को ही मार दिया और मैं तो बालि की शक्ति के सामने कुछ नहीं हूँ, तो वह मायावी दैत्य मुझे भी मार ही डालेगा। तब सुग्रीव वहाँ से भाग निकले।

मगर बालि ने मायावी तथा उसके साथियों को मार डाला और उसके बाद वह वापस लौटा। इसी बीच मंत्रियों ने आपस में सलाह करके सुग्रीव को राजसिंहासन पर बैठा दिया था। लौटकर जब बालि ने देखा कि मेरे सिंहासन पर सुग्रीव बैठा हुआ है, तो उसे बड़ा क्रोध आया और वह सुग्रीव को मारने के लिये उसकी ओर बढ़ा। सुग्रीव वहाँ से भागा और बालि ने उसका पीछा किया। बाद में सुग्रीव ने कहीं सुना कि बालि ऋष्यमूक पर्वत पर नहीं आ सकता। सुग्रीव उसी पर्वत पर जाकर रहने लगा। पर उसके मन में भय बना रहता था।

तभी एक दिन उसने देखा कि बड़े ही तेजस्वी दिखनेवाले दो राजकुमार सामने से आ रहे हैं। उसे लगा कि सम्भवत: बालि ने ही इन दोनों राजकुमारों को मुझे मारने के लिये इधर भेजा है। उसके मन में आया कि क्यों न मैं यहाँ से भाग चलूँ। परन्तु उसे हनुमानजी पर भरोसा था। उसने हनुमानजी से कहा कि मुझे तो ऐसा ही लग रहा है, मगर आप ब्राह्मण का वेष बनाकर जाइये और वहीं से मुझे इशारा कर दीजियेगा कि ये मित्रता की भावना लेकर आ रहे हैं या शत्रुता की।

इस प्रकार सुग्रीव की प्रेरणा से हनुमानजी ब्राह्मण का वेष बनाते हैं और प्रभु के सामने जाते हैं। ब्रह्माजी ने देवताओं को आदेश दिया था कि ईश्वर जब मनुष्य के रूप में अवतार लेंगे, तब तुम्हें बन्दरों का रूप लेना होगा और श्रीराम के साथ युद्ध में सम्मिलित होना पड़ेगा। तब लंका की पराजय होगी और रावण का विनाश होगा। अब जरा इस कथा के अर्थ पर दृष्टि डालते हैं। ये बन्दर लोग जब तक देवता थे, तब तक रावण के सामने कभी टिके ही नहीं, सर्वदा हारते रहे। अब उन्हें बन्दर बनने की आज्ञा दी गई, तो इसका अर्थ क्या था? शास्त्रों की यही मान्यता है कि जो बहुत पुण्य करता है, उसको देव शरीर प्राप्त होता है। ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा कि तुम लोगों ने बहुत पुण्य करके देवत्व को पाया है, परन्तु देव-शरीर पाने के बाद उसका उपयोग तो तुमने केवल भोगों के लिये किया है। तुम्हारे जीवन का लक्ष्य केवल भोग ही है और दैत्यों की मान्यता यह है कि भोगों को पाने के लिये कोई भी साधन सही-गलत नहीं है। पुण्य के द्वारा हो, या पाप के द्वारा, या फिर छीन कर भी, जैसे भी सम्भव हो, हमें भोगों पर अधिकार पाना है। देवता

और राक्षसों में भेद बस इतना ही है। यही हम लोगों के जीवन का भी सत्य है। कभी-कभी लोग कहते हैं कि भले व्यक्ति हार जाते हैं और बुरे व्यक्ति जीत जाते है। परन्तु भले और बुरे व्यक्ति में बहुत बड़ा अन्तर तो है नहीं। भले व्यक्ति भी मानते हैं कि पद-सम्पत्ति तथा भोग की अच्छी-अच्छी वस्तुओं को पा लेना ही सबसे बड़ी उपलब्धि है; और बुरे व्यक्ति भी यही मानते हैं। अत: दोनों के मानने तथा चाहने में तो कोई भेद नहीं है, भेद तो केवल दोनों के स्वभाव में है।

बड़ी सीधी-सी बात है। मान लीजिये दो व्यक्तियों को एक ही स्थान पर पहुँचना हो। उनमें से एक व्यक्ति को इस बात की चिन्ता रहे कि मार्ग में मुझसे किसी को चोट न लग जाय; कोई छोटा जन्तु या चीटियाँ मेरे पैरों के नीचे न आ जायँ। ऐसा व्यक्ति स्वभावत: धीरे-धीरे ही चलेगा, बड़ी सावधानीपूर्वक चलेगा। परन्तु दूसरा व्यक्ति, जिसको दूसरों के कष्ट की परवाह नहीं है, वह तो अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिये दौड़ेगा। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होगी कि उसके पैरों के नीचे आकर कितने जीव-जन्तु मर रहे हैं।

इसी प्रकार देवताओं के मन में स्वभावत: केवल अच्छे मार्ग से भोगों को पाने की इच्छा है। और उनकी तुलना में दैत्य भोगों को पाने के लिये कोई भी मार्ग अपनाने के लिये तैयार हैं। इस दौड़ में देवताओं का पिछड़ना स्वाभाविक है।

समाज में भी यही बात है। भले और बुरे, दोनों प्रकार के व्यक्ति एक ही चीज को पाना चाहते हैं। परन्तु भला व्यक्ति यह सोचकर चलता है कि यह उचित है या अनुचित, क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, क्या पाप है और क्या पुण्य है, अत: स्वभावत: वह बेचारा धीरे ही चलेगा। यदि बुराई जीत जाती है और भलाई हार जाती है, तो क्या इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि अच्छाई सचमुच हार जाती है। उस हार जाने का कारण यह है कि वह अच्छा व्यक्ति भी तो निरन्तर भोगों के लिये व्यग्र है।

यहाँ सबसे महत्व का सूत्र यह है कि ब्रह्मा ने देवताओं को जो आदेश दिया कि तुम बन्दर बनो। और बन्दर बनने के बाद भगवान राम की भक्ति करो, उनकी सेना में सम्मिलित होकर लंका पर आक्रमण करो। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह केवल त्रेता युग का ही सत्य नहीं, बल्कि आज के हम लोगों के जीवन के लिये भी उपयोगी सत्य है।

इस सन्दर्भ में महाभारत की भी कथा याद आती है। जैसे आज का वाक्य है – **सत्यमेव जयते**, वैसे ही महाभारत का एक बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है – **यतो धर्म: ततो जय:** – जिधर धर्म होता है, उसी पक्ष की विजय होती है। अर्थात् धर्म की ही विजय होती है। अब प्रश्न उठता है कि क्या कौरव अधार्मिक थे और पाण्डव धार्मिक थे?

कौरव-पक्ष के योद्धाओं पर धर्म की दृष्टि से विचार करके देखा जाय, तो भीष्म जो बाल-ब्रह्मचारी और महान् त्यागी थे, जिनके मन में राज्य का लोभ नहीं था, क्या वे धार्मिक नहीं थे? कर्ण इतने महान् दानी थे; जो कहते थे, उसे पूरा करने के लिये वे सब कुछ छोड़ देते थे। क्या वे धार्मिक नहीं थे? तुलना में तो कभी-कभी ऐसा भी लग सकता है कि पाण्डवों में जितने धर्मात्मा थे, उसकी अपेक्षा कौरवों के पक्ष में शायद कहीं अधिक संख्या में धर्मात्मा थे। और तब – **यतो धर्म: ततो जय:** – जिधर धर्म होता है, उसी पक्ष की विजय होती है – महाभारत का यह वाक्य सही नहीं जान पड़ता।

परन्तु भगवान व्यास ने धर्म की एक बड़ी सुन्दर कसौटी बताई है। मान लीजिये आपके सामने दो वस्तुयें आती हैं और दोनों सोने की प्रतीत होती हैं, तो यदि आप केवल उनका बाह्य रूप-रंग देखकर उन्हें स्वर्ण मान लें, तो धोखा हो सकता है। जब आप किसी सोना खरीदने वाले सराफ के पास जाते हैं, तो वह क्या करता है? वह अपनी पेटी में से बिल्कुल काले रंग का एक कसौटी पत्थर निकालता है और उसी पर सोने को परखकर देखता है। यदि वह सोना उसकी कसौटी पर खरा उतरे, तो वह असली सोना है। और देखने में असली सोने जैसा लगने पर भी यदि वह खरा न उतरे, तो वह नकली सोना है। कभी-कभी धर्म और अधर्म देखने में इतने एक जैसा दिखाई देते हैं कि यह समझ में नहीं आता कि कौन-सा धर्म है और कौन-सा अधर्म है।

भगवान व्यास ने कहा कि उसे कसौटी पर कसकर देख लो कि क्या धर्म है और क्या अधर्म। और मेरे पास भी एक कसौटी है और जैसे कसौटी काले रंग की होती है, वैसे ही मेरी कसौटी भी काली है। मैं तो उसी कसौटी पर परखकर देखता हूँ कि कौन-सा सोना खरा है और कौन-सा खोटा, क्या धर्म है और क्या अधर्म। वह कसौटी क्या है? उन्होंने कहा – वह जो श्यामवर्ण वाला कृष्ण है न, बस वही वह काले रंगवाली कसौटी है। हम इसी पर कसकर देखेंगे कि क्या धर्म है और क्या अधर्म है। इसीलिये भगवान व्यास ने वह सुन्दर वाक्य कहा, परन्तु उसके साथ एक वाक्य और जोड़ दिया – **यतो कृष्णस्ततो धर्म: यतो धर्मस्ततो जय:** – जिधर कृष्ण है, उधर धर्म है।

प्रमाण ईश्वर है। प्रमाण व्यक्ति नहीं है। श्रीकृष्ण अगर पाण्डवों को स्वीकार करते हैं, तो धर्म उधर ही है। और यदि वे कौरवों को अस्वीकार करते हैं, तो धर्म उधर नहीं है। बात थोड़ी अटपटी-सी लगती है, पर यदि आप एकाग्रतापूर्वक, ध्यान देकर विचार करेंगे, तो इसे समझ सकेंगे।

धर्म के मूल में क्या है? – अहंकार या ईश्वर। पहले आप इस सूत्र पर दृष्टि डालिये। संसार में अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में तो धर्म की प्रेरणा अहंकार से मिलती है – लोग

हमें धर्मात्मा कहें, लोग हमें ये कहें, वो कहें। तो हमारा जो सारा धर्म है, उसके मूल में वस्तुत: अभिमान की वृत्ति होती है। हम सत्य इसलिये बोलते हैं ताकि लोग हमें सत्यवादी कहें। हम दान इसलिये देते हैं ताकि लोग हमें दानी मानें। हम पूजा इसलिये करते हैं ताकि लोग हमें भक्त मानें।

एक धर्म वह है कि जिसके मूल में अभिमान है और दूसरा धर्म वह है जिसके मूल में ईश्वर है। लंका के युद्ध में भगवान राम जब रावण जैसे शक्तिशाली व्यक्ति से युद्ध करने चले। उस समय भगवान राम पैदल थे, शरीर पर कवच भी नहीं था, चरणों में जूते भी नहीं थे और रावण रथ पर बैठकर सामने आया, तो विभीषण को बड़ा सन्देह हुआ। वे बोले – प्रभो, आपके पास रथ की तो बात ही क्या है, शरीर-रक्षा के लिये कवच भी नहीं है, चरणों में जूते तक नहीं है, आप भला इससे कैसे जीतेंगे? उस अवसर पर भगवान राम ने विभीषण को बताया कि धर्म के रथ के द्वारा ही युद्ध में सच्ची विजय प्राप्त होती है।

धर्मरथ के विषय में वे बोले – शौर्य तथा धैर्य ही इस रथ के पहिये हैं। सत्य तथा शील इस रथ की ध्वजा-पताका हैं। बल, विवेक, इन्द्रिय-दमन तथा परोपकार – ये चार उसके घोड़े हैं। क्षमा, कृपा और समता – ये तीन लगाम हैं। और सबसे अच्छी बात तो यह है कि इसके पहिये स्वयं नहीं चलते – घोड़े जिधर जायेंगे, पहिये भी उधर ही चलेंगे। और घोड़े उसी दिशा में जायेंगे, जिधर रथ का सारथी उन्हें ले जायेगा। इसका अर्थ यह है कि शौर्य और धैर्य यदि रथ के पहिये हैं, तो उन्हें गति देनेवाले घोड़े चाहिये। गोस्वामीजी ने बताया कि ये घोड़े चार हैं – बल, विवेक, इन्द्रिय-दमन और परोपकार। अब घोड़े चार होंगे, तो उनमें से दो आगे और दो पीछे होंगे। और पीछेवाले दो घोड़ों को आगेवाले दोनों घोड़ों के पीछे ही चलना होगा।

अब निर्णय आपको करना है कि बल तथा बुद्धि के घोड़ों को आगे रखेंगे, या इन्द्रिय-दमन तथा परोपकार के घोड़ों को। इस निर्णय पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। यदि आपकी बुद्धि का घोड़ा आगे रहेगा, तो आपकी बुद्धि में जो आयेगा, आप वही करेंगे; यदि आपके बल का घोड़ा आगे रहेगा, तो आप अपने पूरे बल का उपयोग करेंगे। परन्तु यदि बल के घोड़े के आगे परोपकार का घोड़ा हो और बुद्धि के घोड़े के आगे इन्द्रिय-दमन का घोड़ा हो, तभी घोड़ों का सही उपयोग होगा। हम चाहें तो बुद्धि के द्वारा भोगों का समर्थन कर सकते हैं, परन्तु यदि हम उसके द्वारा संयम का समर्थन करते हैं, तो यह बुद्धि का सदुपयोग होगा। यदि बल के द्वारा हम दूसरों की रक्षा करते हैं, परोपकार करते हैं, तो यह बल का सदुपयोग होगा। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भले ही अच्छे घोड़े ही आगे हों, पर लगाम जिसके हाथ में है, वह जिधर ले जायेगा, घोड़े और रथ उधर ही जायेंगे।

शौर्य तथा धैर्य भी गुण हैं। सत्य तथा शील भी गुण हैं। बल, विवेक, इन्द्रिय-दमन तथा परोपकार भी गुण हैं। क्षमा, कृपा, क्षमता भी गुण हैं। ये सभी धर्म के लक्षण हैं, पर सब से महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि ईश्वर का भजन ही सारथी है –

ईस भजनु सारथी सुजाना ।। ६/८०/७

यही सबसे महत्त्व का सूत्र है। इन सद्गुणों की बागडोर अभिमान के हाथ में है या ईश्वर के हाथ में है, बस यही भेद इस सन्दर्भ से भी जुड़ा हुआ है।

भगवान राम ने रावण पर बाण का प्रहार बाद में किया। पहले किस पर किया? जब देवताओं ने बन्दरों का रूप ग्रहण किया तो देवराज इन्द्र बालि के रूप में आये। इस कथा की गहराई पर दृष्टि डालें। भगवान आये राक्षसों तथा निशाचरों को मारने और देवताओं को बचाने के लिये। परन्तु राक्षस को मारने से पहले भगवान ने बालि के रूप में जन्म लिये हुए देवराज इन्द्र को मार डाला। बड़ी विचित्र-सी बात है। जब बालि को भगवान राम का बाण लगा, तो उसने भगवान से पूछा भी – आपका अवतार तो धर्म की रक्षा के लिये हुआ है, परन्तु मैं यह समझ नहीं पा रहा हूँ कि आपने मेरा वध क्यों कर डाला –

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं ।। ४/९/५

बालि का तात्पर्य था कि अगर आप धर्म की रक्षा के लिये आये हैं, देवताओं की रक्षा करने के लिये आये हैं तो आपको रावण को मारना चाहिये, पर आपने पहले मुझ पर ही बाण चला दिया। इस पर भगवान राम ने जो उत्तर दिया, वह बड़े महत्त्व का सूत्र है। प्रभु हँसने लगे, बोले – अच्छा, तो तू मुझे जानता है और यह भी जानता है कि मैं क्यों आया हूँ। तो रे मूढ़ सुन – तू घोर अभिमानी है। सुग्रीव को मेरा आश्रित जानकर भी तूने उसे मारने का प्रयास किया, अत: तू दुष्ट और अभिमानी है और इसीलिये तुझे मरना पड़ा –

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना ।। ४/९/९
मम भुजबल आश्रित तेहि जानी ।
मारा चहसि अधम अभिमानी ।। ४/९/१०

यहाँ बालि के मनोविज्ञान पर ध्यान दीजिये। ब्रह्मा ने देवताओं को आदेश दिया था कि तुम लोग बन्दर बनो और भगवान के आने की प्रतीक्षा करो। भगवान के आने के बाद तुम लोग उनके साथ मिलकर लंका पर आक्रमण करना और रावण को हराना। परन्तु बालि के रूप में आये हुए इन्द्र ने भगवान के आगमन के पूर्व ही रावण को हरा दिया।

अधिकांश पुण्यात्मा लोग अभिमानी होते हैं। बालि इन्द्र का ही रूप था और अभिमानी भी था। उसने सोचा कि यदि हम भगवान राम के पीछे चलकर रावण पर आक्रमण करेंगे और रावण हार गया, तो उसकी प्रशंसा हमें नहीं, भगवान

को मिलेगी। इसलिये क्यों न उनके आने के पहले हम रावण को हरा दें। यह बालि का भ्रम था। युद्ध समाप्त होने के बाद भगवान ने बन्दरों के सामने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने हाथ जोड़कर कहा – "मित्रो, राक्षसों तथा रावण का जो वध हुआ है, उसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। रावण तुम्हारे ही संकल्प तथा बल से मारा गया है। विभीषण को राज्य मिला है, तो वह भी तुम्हारे ही बल का परिणाम था –

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्‌यो।
तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्‌यो।। ६/११८/४

परन्तु बालि उतावला हो रहा था कि यदि राम आकर रावण को हरा देंगे, तो मुझे कौन महत्त्व देगा? यह अभिमान अभिमानी को अच्छा कार्य करने की प्रेरणा तो देता है, मगर वह सोचता है कि भगवान से क्या लेना-देना है, हम उनकी कृपा की बात क्यों करें? उनसे सहायता की अपेक्षा क्यों करें? जो कार्य हम पुरुषार्थ से कर सकते हैं, उसके बीच में भगवान कहाँ से आ गये? भगवान को न माननेवाले क्या संसार में अच्छा काम नहीं करते? नास्तिक लोग भी तो अनेक अच्छे कार्य करते हैं। भगवान ने बालि से कहा कि तुममें अभिमान है, इसलिये तुम्हारे ऊपर प्रहार किया गया।

रामायण में ऐसा है और महाभारत में बात बिल्कुल उलट गई है। महाभारत में अर्जुन और कर्ण हैं। कर्ण के बारे में कहा जाता है कि सूर्य के अंश से कर्ण का और इन्द्र के अंश से अर्जुन का जन्म हुआ। रामायण में माना जाता है कि इन्द्र के अंश से बालि का और सूर्य के अंश से सुग्रीव का जन्म हुआ। परन्तु रामायण काल में तो दृश्य ही बदल गया। भगवान ने इन्द्र-पुत्र पर बाण चलाया, उसका वध किया और सूर्य-पुत्र सुग्रीव को बचाया, उसकी रक्षा की।

परन्तु महाभारत में उन्होंने इन्द्रपुत्र अर्जुन को बचाया और सूर्यपुत्र कर्ण का वध करा दिया। दो अवतारों के रूप में एक ही भगवान दो तरह के उल्टे कार्य करते दिखाई दे रहे हैं। क्यों? एक सज्जन ने कहा कि वे सम हैं, हिसाब-किताब बराबर कर दिया – पहले एक का पक्ष ले लिया, बाद में दूसरे का पक्ष ले लिया। लेकिन ऐसी बात नहीं है।

एक सूत्र पर ध्यान दीजिये। दोनों ही अवतारों में भगवान ने उसी की रक्षा की जिसके साथ हनुमानजी रहे। महाभारत में हनुमानजी इन्द्रपुत्र अर्जुन के साथ हैं और रामायण में वे सूर्यपुत्र सुग्रीव के साथ हैं। यह एक बहुत बड़ा सूत्र है। भगवान प्रमाण मानते हैं और यहाँ प्रमाण उन्होंने हनुमानजी के रूप में स्वीकार किया। यहाँ सुग्रीव ज्ञान का प्रतीक है और बालि पुण्य का, धर्म का प्रतीक है। और सूत्र यह है कि व्यक्ति को ज्ञान होने पर यदि ज्ञानी होने का अभिमान है, पुण्य या धर्म करने पर यदि उसे पुण्यात्मा या धर्मात्मा होने का अभिमान हो, तो उसे अभिमानी कहा जायेगा।

महाभारत-काल का सूर्यपुत्र कर्ण अभिमानी है। उसे इस बात का अभिमान है कि 'मैं' सत्यवादी हूँ, 'मैं' दानी हूँ। यह 'मैं' उसका पीछा नहीं छोड़ता। उसे इस 'मैं' की चिन्ता सताती रहती है। एक बड़ा सुन्दर प्रसंग आता है। भगवान कृष्ण जब सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास गये, तो उसने मना कर दिया। फिर भगवान कृष्ण जब लौटने लगे, दुर्योधन की सभा से बाहर आने लगे, तो शिष्टाचार के नाते कर्ण भगवान कृष्ण को विदा करने द्वार तक आया। भगवान कृष्ण ने मुस्कुराते हुए उससे कहा – तुम मेरे रथ पर बैठ जाओ, मैं तुमसे एकान्त में कुछ बातें करना चाहता हूँ।

भगवान की बात बड़ी व्यंग्य से भरी थी। वे जानते थे कि अर्जुन और कर्ण आपस में भाई-भाई हैं। भगवान का तात्पर्य था कि मैं जानता हूँ कि अर्जुन की तरह मुझे भी तुम अपने रथ में नहीं बैठाओगे, तो चलो, तुम्हीं मेरे रथ में बैठ जाओ। अभिमान के कारण तुम मुझे तो निमंत्रण नहीं दोगे कि मेरे रथ को आप चलाइये और अर्जुन तो भक्त है, वह मुझे निमंत्रण देगा। इसलिये मैं ही तुम्हें निमंत्रण देता हूँ, चलो मेरे रथ में बैठ जाओ। भगवान बड़े उदार हैं, बड़े दयालु हैं।

कर्ण ने स्वीकार कर लिया और भगवान के रथ में बैठ गया। कुछ दूर निकलने के बाद भगवान ने कर्ण से पूछा – जानते हो, तुम कौन हो? कर्ण बोला – महाराज, जानने या न जानने की कोई जरूरत ही नहीं है। भगवान ने कहा – वस्तुतः सूर्य के अंश से तुम्हारा जन्म हुआ है और सूर्य के पुत्र होकर तुम यह क्या कर रहे हो? उत्तर में कर्ण ने जो कुछ कहा, उसे कई लोग उसकी बड़ी महानता बताते हैं। बोला – महाराज, मुझे लोभ न दिखाइये, अब तो मैं दुर्योधन का ही साथ दूँगा। – क्यों? बोला – मैं जानता हूँ कि दुर्योधन का पक्ष अन्याय का है, पर जिस दुर्योधन ने इतने दिनों तक मेरा साथ दिया, आज यदि मैं उसका साथ छोड़ दूँ, तो लोग क्या कहेंगे!

अभिमानी को सबसे बड़ी चिन्ता इसी बात की रहती है कि लोग क्या कहेंगे। भगवान हँसने लगे। बोले – मैं (भगवान) क्या कहूँगा, इसकी चिन्ता तुम्हें नहीं है, तुम्हें इसी बात की चिन्ता है कि लोग क्या कहेंगे! इसी को तुम सबसे बड़ी वस्तु मानते हो। भगवान उसे यह बताना चाहते हैं कि तुम अमृत के पुत्र हो, प्रकाश के पुत्र हो और विचार करके देखो, तुम किस दुर्योधन की सेवा कर रहे हो? यह दुर्योधन कौन है? अन्धे धृतराष्ट्र का पुत्र है। और तुम सूर्य के, प्रकाश के पुत्र होकर अन्धे के बेटे की सेवा करो, तो क्या यही सूर्य का पुत्र होने का गौरव है! यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है।

❖ (क्रमशः) ❖

भागवत की कथाएँ (७)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

समुद्र-मन्थन

विराट आयोजन हुआ था ! चारों ओर हो-हल्ला हो रहा था। समुद्र-मन्थन होगा। देवतागण विष्णु के पास गए थे। उनके आदेश से यह समुद्र-मन्थन हो रहा है। एक ओर राजा बलि तथा उनकी आसुरी सेना। दूसरी ओर इन्द्र तथा उनके देवतागण। मन्थन का दण्ड होगा मन्दराचल पर्वत और वासुकी नाग का रस्सी के रूप में उपयोग होगा। उद्देश्य था समुद्र-मन्थन करके अमृत पर अधिकार प्राप्त करना।

परन्तु इतना बड़ा मन्दराचल पर्वत किसके ऊपर टिक कर चलेगा? तब श्रीभगवान ने कूर्म-शरीर धारण करके उसे अपनी पीठ पर धारण कर लिया। मन्थन शुरू हुआ। सबसे पहले हलाहल नामक विष निकला। सृष्टि ध्वंस होने के कगार पर पहुँच गयी। देवतागण भयभीत होकर महादेव शंकर के सामने जा उपस्थित हुए और उनकी स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया। शंकरजी समस्त प्राणियों के हितैषी हैं। सबका कल्याण करने के कारण ही उनका नाम शिव हुआ है। वे इस विष को पीने के लिए तैयार हो गए। विष के प्रभाव से उनका कण्ठ नीले रंग का हो गया। तभी से शिव 'नीलकण्ठ' भी कहलाने लगे। सत्पुरुष लोग अक्सर दूसरों के दुःख से दुःखी हो जाते हैं; दूसरों के दुःख से दुःख का अनुभव करना ही भगवान की श्रेष्ठ पूजा है।[१]

इस मन्थन के फलस्वरूप समुद्र से क्रमशः सुरभी नामक गाय, उच्चैश्रवा नामक घोड़ा, ऐरावत आदि आठ हाथी, कौस्तुभ मणि और पारिजात नामक कल्पतरु निकले। सबसे अन्त में निकलीं सर्व-सौन्दर्यमयी लक्ष्मी देवी। लक्ष्मी देवी कहाँ जाएँगी या किनका आश्रय लेकर रहेंगी? उन्होंने विचार करके देखा कि कहीं तपस्या तो है, परन्तु क्रोध पर विजय नहीं – जैसे दुर्वासा; फिर कहीं उच्च पद है, परन्तु काम पर विजय नहीं – जैसे ब्रह्मा, चन्द्रमा आदि; और कहीं ज्ञान है, परन्तु अनासक्ति नहीं – जैसे शुक्राचार्य; कहीं पर धर्म है, परन्तु दया नहीं है – जैसे परशुराम; कोई दीर्घायु है, परन्तु उसमें शील और मंगल नहीं – जैसे मार्कण्डेय, फिर सनकादि सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी वे कभी विवाह नहीं करेंगे। एकमात्र विष्णु ही समस्त गुणों के स्वामी हैं। उनके समान दूसरा कोई नहीं है; इसीलिये आखिरकार लक्ष्मी देवी ने विष्णु को पति के रूप में वरण किया।

तदुपरान्त इस मन्थन से सुरा नामक एक बालिका निकली। इस कन्या को असुरों ने ग्रहण कर लिया। अन्त में अमृत-कुम्भ लेकर धन्वन्तरी प्रकट हुए। असुरों ने धन्वन्तरी से बलपूर्वक यह घड़ा छीन लिया। जिस अमृत के लिए सबने इतना परिश्रम किया था, वह असुरों के हाथ में चला गया। देवतागण विष्णु के शरणागत हुए।

तब विष्णु एक परम सुन्दरी मोहिनी नारी का रूप धारण करके असुरों के समक्ष उपस्थित हुए। असुरगण उस समय इसी बात को लेकर आपस में झगड़ा कर रहे थे कि सबसे पहले अमृत कौन पीयेगा। उस नारी के रूप पर मोहित होकर असुरों ने उसी के हाथों में कुम्भ सौंपते हुए कहा – "तुम्हीं हम लोगों के बीच के झगड़े को मिटाकर हम लोगों का कल्याण करो।" तब इस मोहिनी ने देवताओं और असुरों को अलग-अलग पंक्ति में बैठा दिया। उसने मीठी-मीठी बातों में असुरों को भुलाए रखा और देवताओं की पाँत में अमृत का वितरण कर दिया। असुरों में राहु बड़ा चतुर था। वह रूप बदलकर देवताओं की पंक्ति में बैठ गया और धोखे से अमृत पी लिया। सूर्य और चन्द्र ने उसे पहचान लिया और उसका मस्तक काट दिया गया। परन्तु जिसने अमृत पी लिया है, उसकी मृत्यु नहीं होती। राहु की मृत्यु नहीं हुई। उल्टे वह सूर्य और चन्द्रमा को निगलने के लिए उनकी ओर दौड़ा। परन्तु कुछ क्षणों के लिए ही ऐसा हुआ। तब श्रीहरि ने मोहिनी रूप का त्यागकर अपना रूप धारण कर लिया।

देवतागण अमृत पीकर अमर हो गए। असुरराज बलि ने क्रोधित होकर देवताओं पर चढ़ाई कर दी। प्रचण्ड युद्ध हुआ। उस युद्ध में असुरराज बलि पराजित हो गए।

बलि और वामन

देवताओं के साथ युद्ध में बलि पराजित भले ही हो गए, तथापि वे भीतर से टूटे नहीं, बल्कि बदला लेने के लिए उन्होंने नए उत्साह से यज्ञ आरम्भ कर दिया। उस यज्ञ से अनेक बहुमूल्य अस्त्र निकले। उन अस्त्रों से शक्तिमान होकर बलि ने इन्द्रपुरी को घेर लिया। देवताओं के गुरु बृहस्पति ने

१. तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥ भा., ८/७/४४

इन्द्र से कहा – बलि के इस प्रभुत्व का स्वयं श्रीहरि ही नाश करेंगे। तुम लोग प्रतीक्षा करो। बलि ने बिना किसी बाधा के स्वर्ग पर आधिपत्य कर लिया और परम आनन्द के साथ सौ अश्वमेध यज्ञ आरम्भ कर दिये।

इधर अदिति के गर्भ से भगवान श्रीहरि ने वामनदेव के रूप में जन्म लिया। वामनदेव का शरीर बहुत ठिगना था। उनके पाँव तो और भी छोटे थे। उचित समय पर उनके उपनयन आदि संस्कार हुए। उसके बाद सूर्य के समान तेजस्वी वामनदेव कमण्डलु तथा छत्र आदि लेकर बलि राजा की यज्ञभूमि में उपस्थित हुए। यथारीति आदर-सम्मान और स्वागत-सत्कार के बाद बलि राजा ने कहा – "हे परम पूज्य ! गायें, स्वर्ण, घोड़े, हाथी, अन्न तथा पेय पदार्थ – जो कुछ भी आप माँगें, मैं वह सब आपको दान करूँगा।"

वामनदेव ने कहा – "यह बात आपके समान राजा के मुख से ही शोभित होती है। आपके पूर्वज प्रह्लाद महान् दाता थे। आपके पिता विरोचन ने भी अपने शत्रु – देवताओं को अपनी परम आयु दान में दी थी। अपने पूर्वजों की भाँति आप भी महान् धार्मिक हैं। मैं अधिक कुछ नहीं चाहता। मैं अपने पाँव से नापकर तीन कदम धरती माँगता हूँ।"

बलि ने कहा – "हे ब्राह्मण, आप निरे बालक हैं। मैं तीनों लोकों का अधिपति हूँ। मुझसे आपने यह क्या माँगा ! अधिक नहीं, तो कम-से-कम अपने भरण-पोषण के लिए उपयोगी भूमि ही माँग लीजिए। इसके उत्तर में वामनदेव ने कहा – "नहीं राजन्, मुझे अधिक भूमि की जरूरत नहीं है; मैंने जितना माँगा है, उसी का दान करके आप अपने वचन की रक्षा कीजिए।"

बलि ने हँसते-हँसते तीन कदम भूमि दान करने के लिए अपने हाथ से कमण्डलु उठाया। दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य अब तक यह सब देख रहे थे। उन्होंने दौड़ते हुए आकर अपने शिष्य राजा बलि को सावधान करते हुआ कहा – "यह क्या करते हो राजन् ! ये वामनरूपी ब्राह्मण स्वयं विष्णु हैं, तुम्हें छलने आए हैं। ये अपनी माया की शक्ति से तुम्हारे राज्य, यश, विद्या आदि सब कुछ पर अधिकार करके उन्हें इन्द्र को दे देंगे। उनका शरीर विश्वव्यापी है। ये अपने तीन कदमों से तीनों लोकों पर अधिकार कर लेंगे। हे राजन्, विष्णु को सब कुछ दान देने के बाद तुम कैसे जीवन-यापन करोगे? जिस दान से अपना जीवन एवं आजीविका ही संकट में पड़ जाए, ऐसे दान की विद्वान् भी प्रशंसा नहीं करते।"

इस पर राजा बलि ने कहा – "गुरुदेव, आपने जो बातें कहीं हैं, वे सब सही हैं। परन्तु मैं महाराज प्रह्लाद का वंशज हूँ। मैंने दान देने का वचन दिया है। अब धन के लोभ अथवा प्राण के भय से अपने वचन से कैसे मुकर जाऊँ ! झूठ बोलने से बड़ा दूसरा कोई पाप नहीं है। दधीचि आदि महात्माओं ने प्राचीन काल में अपने प्राण देकर भी दूसरों की सेवा की थी। साधारण भूमि की तो बात ही क्या है ! युद्ध में प्राणत्याग तक करनेवाले अनेक वीर मिल जायेंगे, पर किसी सत्पात्र के अपने सामने उपस्थित होने पर श्रद्धापूर्वक दान देनेवाला मनुष्य इस संसार में दुर्लभ है। अतः मेरे सामने जो आए हैं – वे विष्णु हों अथवा मेरे शत्रु हों – मैं उनकी माँग को पूरी करूँगा।" अपने गुरु शुक्राचार्य के रोकने पर भी राजा बलि ने वामन को तीन पग भूमि का दान किया।

इधर वामन ने अपना रूप प्रकट किया। उनका शरीर समस्त चराचर विश्वव्यापी है। वह शरीर इतना फैल गया कि राजा बलि ने देखा – वामनदेव ने अपने एक पाँव से सारी धरती को आच्छादित करने के बाद दूसरा पैर स्वर्ग पर रखा। तीसरे पग के लिए तिलमात्र स्थान बाकी नहीं रहा। वामनदेव ने कहा – "असुरराज ! मेरे दो कदमों से सारी पृथ्वी और स्वर्ग अधिकृत हो गए हैं; अब तीसरे कदम के लिए जगह दीजिए। आपने जो दान देना स्वीकार किया है, उसके पूर्ण न होने पर आपको नरक का भोग करना होगा।"

राजा बलि ने कहा – "हे परम यशस्वी ! हे नरश्रेष्ठ ! क्या आप मेरे द्वारा दिए गए वचन को असत्य मानते हैं? मैं उसकी सत्यता का निर्वाह करूँगा। मेरा वचन कभी असत्य नहीं होगा। आपके तीसरे पद के लिए मैं स्थान देता हूँ। मेरा मस्तक ही वह स्थान है। मैं नरक से नहीं डरता, मगर अपयश से डरता हूँ। आपके द्वारा दिए जाने वाले दण्ड को मैं आशीर्वाद के रूप में स्वीकार करूँगा।"[२]

इस कथन से वामनरूपी भगवान परम प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा – "दैत्यकुल के इस उज्ज्वल रत्न ने दुर्जय माया को जीत लिया है। गुरु शुक्राचार्य के निषेध तथा मेरे छल को जानने-समझने के बावजूद इस भाग्यवान् असुर ने सत्य का परित्याग नहीं किया। मैं इसे ऐसा वरदान दूँगा, जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। हे बलिराज, तुम सावर्ण मन्वन्तर में इन्द्र बनोगे। देवता या मनुष्य कोई तुम्हारा पार नहीं पा सकेगा। साथ ही, तुम्हारे पितामह प्रह्लाद सदैव तुम्हारे साथ रहेंगे। मैं अपने हाथों में गदा धारण कर सदा-सर्वदा तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

❖ **(क्रमशः)** ❖

२. यद्युत्तम-श्लोक भवान् ममेरितं वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनं, पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्।।
भा., ८/२२/२

आत्माराम की आत्मकथा (४८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

माउंट आबू में निवास (जारी)

इस बार (१९३३) भी आबू में बाघों का उत्पात हुआ। एक दिन संध्या के समय मैं अपने पड़ोस में रहनेवाले वैष्णव सम्प्रदाय के एक आचार्य साधु के साथ बाहर बैठकर बातें कर रहा था, तभी बाघ ने बिल्कुल पास आकर दहाड़ मारी। खाई के ऊपर चढ़ते ही बाघ हमें देख लेता। बाबाजी तो इतने घबराये कि कहा नहीं जा सकता। (ये रामानन्द सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध आचार्य थे, बाद में इन्होंने उक्त सम्प्रदाय को त्याग दिया। रामानन्द स्वयं गेरुआ पहनते थे और त्रिदण्डी संन्यासी थे। मेरे साथ उनकी इस बात पर कई बार चर्चा हुई थी कि अब रामानन्द सम्प्रदाय में गृही तथा त्यागी साधु को पहचानने का कोई उपाय नहीं है। सबका एक ही पहनावा है। अत: त्यागी यदि गेरुआ पहनें, तो उदासी सम्प्रदाय की तरह दशनामी शांकर मतावलम्बियों के साथ एक रंग में मिल जायेंगे। सब त्यागियों का एक ही रंग हो जायेगा और इसी में सम्प्रदाय की भलाई होगी। यह बात उन्होंने अन्य आचार्य महन्त तथा बाबाजी को लिखने के बाद स्वयं गेरुआ पहन लिया। इसके कारण नासिक-कुम्भ में कट्टरपन्थी लोगों ने उनको अपमानित किया और मारने की चेष्टा की। धीरे-धीरे सम्प्रदाय में उनके विरुद्ध भीषण षडयंत्र चला, यहाँ तक कि उन्हें मार डालने की धमकी के सैकड़ों पत्र मिलने लगे। मैंने पहले ही कहा था कि कट्टरपन्थी लोग बड़ी बाधा डालेंगे। यदि वे इसके लिए तैयार हों, तभी गेरुआ पहनें और स्वयं पहने बिना दूसरों को नहीं पहनाया जा सकता, अत: पहले उन्हें स्वयं ही साहस करना होगा। इसके कारण आबू के महन्त मेरे ऊपर नाराज हो गये और सबसे कहने लगे कि वे मेरे कारण ही बिगड़े हैं। अब वे किसी सम्प्रदाय में नहीं हैं। कह नहीं सकता कि उनकी अपना ही कोई मत चलाने की इच्छा है या नहीं। ऐसा असम्भव भी नहीं है, क्योंकि वे स्वयं दर्शन-शास्त्र के विद्वान् और रामानन्द भाष्य आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता हैं। उन्होंने मिथिला तथा बंगाल में न्याय पढ़ी थी। बंगला, फारसी, गुजराती, मराठी, तमिल, अँग्रेजी आदि सब भाषाएँ थोड़ी-बहुत जानते थे। ...

मुम्बई और अहमदाबाद (१९३३)

वर्षा में आबू से उतरकर पहले पालनपुर और उसके बाद अहमदाबाद तथा राजकोट होते हुए बिलखा गया। १९३३ ई. के दिसम्बर में दीवानजी के साथ पुन: मुम्बई गया। बिहार में भूकम्प की खबर मिलने पर मुम्बई आश्रम के स्वामी विश्वानन्दजी ने कहा कि यदि सम्भव हो, तो मैं अहमदाबाद जाकर राहत के लिये कुछ धन-संग्रह की चेष्टा करूँ।

मेरे लिये स्वयं वह करना सम्भव न था, अत: मैं केवल इतना कहकर अहमदाबाद गया कि लोगों से कहकर देखूँगा यदि कोई कुछ कर सके। वहाँ शारदा मन्दिर के पास त्रिवेदी के मकान में ठहरा। श्रीमती त्रिवेदी तब नगरपालिका कमेटी की सदस्य थीं। बातों-बातों में धन-संग्रह की बात बताते ही उन्होंने कहा कि वे उसकी सभा में यह बात उठाकर प्रयास करेंगी। उन दिनों नगरपालिका में काँग्रेस ही मुख्य दल था और इस मद में छह लाख रुपये देने की बात चल रही थी। पार्टी ने बाजार से ही चार लाख रुपये एकत्र कर लिये थे। यदि इसका आधा भी मिशन को जाय और बाकी आधा बाबू राजेन्द्र प्रसाद को भेजा जाय, तो अच्छा हो। अध्यक्ष स्वामीजी के भक्त थे, इसलिए सभा में निर्धारित हुआ कि दो लाख मिशन को दे दिया जाय। वह सूचना महात्माजी तक पहुँचते ही उन्होंने तार द्वारा बताया कि काँग्रेस के सिवा अन्य किसी संस्था को एक पाई भी न दिया जाय। श्रीमती त्रिवेदी ने मुझे यह सूचना दी और कहा – ''अध्यक्ष कठिनाई में पड़ गये हैं और आपसे मिलना चाहते हैं।'' अगले दिन मैं नगरपालिका के दफ्तर गया। उनसे भेंट हुई। उन्होंने तार दिखाकर पूछा – ''अब क्या करें?'' मैं बोला – ''आपकी सभा में यह प्रस्ताव पारित हो चुका है; अब इसे कैसे बदला जा सकता है – यह सूचित करते हुए तार या पत्र भेजिये। उत्तर में वे क्या कहते हैं, यह जानने के बाद जो उचित होगा, कहूँगा।''

पत्र लिखा गया, तार आया – ''एक पाई भी किसी अन्य दल को न देना, सारे रुपये तत्काल बाबू राजेन्द्र प्रसाद को भेजो।'' देखा – किसी में भी इसके विरुद्ध खड़े होने का साहस नहीं है। मैं बोला – ''मैं झगड़ा करनेवाला आदमी नहीं हूँ, केवल इतना ही कहूँगा कि यह अन्याय होगा। अब आप लोग जो उचित समझें, कीजिये। चाहे जिस भी संस्था के द्वारा हो, लोगों का भला ही मुख्य बात है। इसे लेकर वाद-विवाद या झगड़ा मैं मूर्खता समझता हूँ। पर एक सभा

द्वारा पारित प्रस्ताव को जबरन रद्द करवाना दुराग्रह मात्र है।''

तभी बाजार के प्रतिनिधि वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने मुझसे एकान्त में पूछा – ''बात क्या है?'' मैंने उन्हें सब कुछ बताकर कहा – ''काँग्रेस के बाबू लोग भले आदमी हो सकते हैं, लेकिन राहत-कार्य के क्षेत्र में उन्हें कितना अनुभव है? अनुभव न होने से रुपयों की बरबादी होगी। वे स्वयं तो कर नहीं सकते, उनको दूसरों पर निर्भर करना पड़ेगा और यह कैसे जाना जा सकता है कि वे लोग राहत-कार्य में और भी अधिक अनुभवहीन नहीं होंगे! जो लोग इतने दिनों से यह काम करते आ रहे हैं, उनके साथ सहयोग करके काम करना ही अच्छा होगा, पैसों का सदुपयोग होगा और कहा – ''आप लोगों का बाजार ही तो चार लाख दे रहा है, तो फिर आप लोग स्वयं अपने आदमियों से राहत-कार्य क्यों नहीं कराते? उन रुपयों को देने की बाध्यता होने पर भी आप लोग यह अधिकार रख सकते हैं कि वह आपके या आपके प्रतिनिधि द्वारा ही बिहार में खर्च किया जाय। इसी शर्त पर रुपये दीजिये। जितना काम होगा, उसे कांग्रेस के निर्देशानुसार आप लोग अपने नाम से करवा सकते हैं। इसके सिवा आप लोग एक सलाह और दीजिये – चूँकि और भी बहुत-से रुपये एकत्र होंगे, इसलिए आप लोग एक ट्रस्ट बनवाकर सब रुपये उसी के नाम जमा करें और जरूरत के अनुसार उसमें से रुपये काँग्रेस कर्मी को दिये जायँ। उसमें कुछ बच जाय, तो वह भविष्य में काम आ सकता है। यदि आप लोग ऐसा नहीं करेंगे, तो सारे रुपये फुर्र से उड़ जायेंगे। इन्होंने आपस में सलाह करने के बाद महात्माजी को सूचित किया। फिर वही आदेश आया – बिना कोई विचार किये सारे रुपये राजेन्द्र बाबू को भेज दो। परन्तु इन लोगों ने भी अपनी जिद नहीं छोड़ी और वर्धा जाकर बातें करने के बाद जमनालाल बजाज को अपने पक्ष में लेकर उसे कार्य रूप में परिणत किया। और जैसा कि सर्वविदित है, बाद में ट्रस्ट बना था और काम भी अच्छा हुआ।

राजकोट-आश्रम लौटकर 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' के 'साधक-भाव' के गुजराती अनुवाद में सहायता की और उसके बाद बिलखा गया। १९३४ ई. की गर्मियों में आबू पहाड़ जाने के पूर्व 'लीला-प्रसंग' का प्रूफ आदि संशोधित करके उसके प्रकाशन में सहायता की। आश्रम पुस्तकालय को पुन: ठीक ढंग से सजाया। आबू में फिर उसी – 'चम्पा गुफा' में ठहरा। पड़ोस में वे ही वैष्णव साधु थे। इस बार उन्होंने गेरुआ वस्त्र धारण कर रखा था, चोटी नहीं के बराबर थी। उसे देखते हुए मैंने हँसी में कहा – ''इसे भी उड़ा दूँ क्या?'' उन्होंने कहा – ''यह तो अपने आप ही उड़ती जा रही है।'' मैंने कहा – ''हाँ, अल्पतम प्रतिक्रिया सृष्टि करते हुए अज्ञात रूप से थोड़ा-थोड़ा करके जाना ही अच्छा है।''

क्वेटा में भूकम्प (१९३४)

क्वेटा (महाराष्ट्र) में भूकम्प का समाचार मिला। भयंकर अवस्था थी। यह भी बिहार-भूकम्प से किसी दृष्टि से कम नहीं था। बिलखा के दीवान ने दरबार की तरफ से तार किया – ''राहत करने चले जाइये। जो खर्चा होगा, बीस-पच्चीस हजार तक यहाँ से देंगे।'' सरकार किसी को अनुमति नहीं दे रही थी। काँग्रेस को भी मना कर दिया था। A.G.G. की मार्फत अनुमति पाने की चेष्टा की। उन्होंने कहा – ''सेनाध्यक्ष के हाथों में है, उन्हीं को लिखिये।'' तत्कालीन सैन्य-प्रमुख जनरल बर्डवुड (General Birdwood) तथा उनकी पत्नी के साथ आबू में तब थोड़ा परिचय हुआ था, जब वह कई बार कई तरह के प्रश्न लेकर गुफा में आई थीं। उनको लिखा। उत्तर मिला – ''चूँकि किसी को अनुमति नहीं दी जा रही है, अत: आपको अनुमति मिलने से झगड़ा हो सकता है, इसलिए जंगीलाट (सेनाध्यक्ष) अनुमति नहीं दे सकते।''

जब बिलखा से तार मिला, उसी समय कुछ जैन साधु मेरे साथ योगशास्त्र पर चर्चा कर रहे थे। ये लोग स्वभाव से अत्यन्त कुतूहली तथा चंचल थे। इतने उत्सुक थे कि तार देखते ही – ''क्या, क्या? क्यों, क्यों?'' करने लगे। सुन कर मुझे हँसी आ गयी। ये लोग प्राय: सभी वैश्य वर्ण के होते हैं, शायद इसी कारण ऐसा स्वभाव होगा। मैंने कहा – ''क्वेटा में भूकम्प से जान-माल की काफी क्षति हुई है। एक व्यक्ति ने तार भेजा है कि मैं वहाँ जाकर सेवा-कार्य करूँ, वे सारा खर्च देंगे।'' इतना भीषण प्रकोप, इतने लोगों के प्राण गये थे! तो भी उन लोगों को कहने को कुछ नहीं मिला। बोले – ''ऐं! तो फिर आप कैसे जायेंगे?'' मैं बोला – ''क्यों, रेलगाड़ी से जाऊँगा; हवाई जहाज मिले तो उसी से जाऊँगा।'' – ''क्या! आप रेल पर चढ़ेंगे? इससे तो महा-पाप का भागी होना पड़ता है। उन सबसे अग्नि में असंख्य जीव मरते हैं। वे जब चलती हैं, तो कितने ही जीवों की हत्या होती है। जो उन पर चढ़ते हैं, उन्हें उस पाप का अंश लेना पड़ता है। आप संन्यासी होकर भी क्या उस पाप का अंश ग्रहण करेंगे?'' मैं – ''आप लोगों की भाँति सूक्ष्म विचार-बुद्धि के साथ काम किया जाय, तब तो सारी दुनिया ही पंगु हो जायेगी। हजार मील दूर आपदा आयी है। क्या आप लोग इतना भी नहीं सोच पाते कि पैदल जाने से वहाँ पहुँचते-पहुँचते कोई बचेगा नहीं, सब मरकर भूत हो जायेंगे! ऐसी सेवा करने के लिये रेलगाड़ी में भी चढ़ना पड़े, तो वह पाप नहीं, वरन् सच्चा पुण्य होगा।'' यह बात मैंने थोड़े आवेश में कही, क्योंकि मन उस समय बड़ा दुखी था, प्राण वहीं जाने को रो रहे थे। थोड़ी देर बाद वे लोग चले गये।

वर्षा शुरू होने के बाद पालनपुर होते हुए पुन: राजकोट लौट गया। उसके बाद बिलखा गया। इस बार सर्दियों में

चीतल गया, जो बिलखा राज्य का ही एक कस्बा है। दरबार (राजा) मुम्बई गये। पूजनीय सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्दजी) ने मुझे सूचित किया कि वे काठियावाड़ तथा द्वारका-दर्शन के इच्छुक हैं। स्थिर हुआ कि राजकोट आश्रम इसके लिये ५० रुपये देगा और बाकी का प्रबन्ध मुझे करना होगा। जब वे आये, तब मैं चीतल में बीमार पड़ा था। नाई के हजामत बना जाने के आधे घन्टे के अन्दर ही पूरा चेहरा सूज गया। काफी जलन हो रही थी। नाई डरकर भाग गया। अब क्या करें! निकटतम अस्पताल राजकोट में था, एक जैतपुर में भी था, पर वह काम का नहीं था। मैंने राजकोट आश्रम को पत्र लिखा और स्वयं ही अपना इलाज शुरू किया – हल्दी, नीम के पत्ते तथा आँवलों को एक साथ पीसकर उसका लेप करता और वही दिन में दो-तीन बार खाता। उसके साथ पथ्य था – दूध-रोटी, दूध-भात या कभी बिना नमक के घी में पकाया हुआ आलू या उसकी सब्जी। बस! चौथे दिन राजकोट के व्यायाम-मण्डल के एक सेवक टैक्सी लेकर आ पहुँचे, बोले – "डॉक्टरों ने अस्पताल में बिस्तर तैयार रखा है, अब जाने भर की देर है।" तब तक रोग थोड़ा काबू में आ गया था, सूजन थोड़ी घटी थी और दिन-रात जो भीषण जलन हो रही थी, उसमें भी कमी आयी थी, अतः डॉक्टरों के चक्कर में पड़ने की इच्छा नहीं हुई और मैं नहीं गया। वहीं गाय के घी को १०८ बार धोकर उसी को मलहम के समान लगाते-लगाते उसमें थोड़ा-सा सुधार हो रहा था।

जब सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्दजी) राजकोट पहुँचे, घाव तब भी पूरा ठीक नहीं हुआ था। आते ही पत्र आने लगे – "चले आओ!", "आये क्यों नहीं?" आदि। मैं जितना ही अपने रोग के बारे में लिखता, वे उतने ही परेशान होकर आने को लिखते। बाद में वहाँ जाकर कारण मालूम हुआ कि वे खर्च के बारे में चिन्तित थे। वैसे जितना भी खर्च लगे, मैंने उतना देने को कह रखा था, पर व्यावहारतः वैसा हो नहीं सका। जाकर पता चला – वे द्वारका गये हुए थे। जिस दिन लौटे, मैं उन्हें लेने स्टेशन गया। देखा कि तीसरे दर्जे के डब्बे से बड़ी भीड़ के बीच से दबी-कुचली हालत में नीचे उतर रहे हैं। मैं उन्हें दूसरे दर्जे में ढूँढ़ रहा था। मुझे बड़ा दुःख हुआ। पता चला कि इसके लिए सेवकगण ही उत्तर-दायी थे। उन ४-५ लोगों ने मिलकर उसी बजट में द्वारका-दर्शन कर लेने के चक्कर में यह हाल किया था। इसके बाद उन्हें कष्ट नहीं होने दिया और मुझे देखकर वे भी निश्चिन्त हुए। वे मेरे साथ बिलखा जाकर वहाँ भी ७-८ दिन रहे। दरबार तब मुम्बई थे। इसके बाद जूनागढ़, गिरनार, वेरावल और सोमनाथ आदि दर्शन करते हुए राजकोट लौट आये।

इसके बाद वे आबू जानेवाले थे और वहाँ से दिल्ली होते हुए काशी जायेंगे। बोले – "काशी तक का किराया दो।" स्वयं ही सब हिसाब करके रुपये माँगे। मैं थोड़ा अधिक देने लगा। बोले – "उसकी जरूरत नहीं है। यह देखो, पक्का हिसाब है" – कहकर कागज दिखाया। मैं उन्हें समझाते हुए बोला – "मान लीजिये रास्ते में किसी कारणवश १०-२० रुपयों की जरूरत पड़ जाय, तब आप क्या करेंगे? इसलिये थोड़ा अधिक ही ले जाइये।" आखिरकार वे इस शर्त पर राजी हुए कि यदि खर्च न हुआ, तो वापस लौटा देंगे। मैंने कहा – लौटाने के पूर्व मुझे सूचित कीजियेगा।

रास्ते में उन्हें और रुपयों की जरूरत पड़ी थी। काशी से लिखा कि केवल दस रुपये बचे हैं, उसका क्या करूँ? मैं उनके साधुत्व पर मुग्ध रह गया। मैंने उन्हें लिखा कि उससे एक उस्तरा खरीदिये, क्योंकि उन्हें मधुमेह का रोग था और भय था कि नाई के उस्तरे से कुछ अनिष्ट न हो जाय। उन्होंने उस्तरा खरीदा था और शताब्दी के समय स्वामी परमानन्दजी को उसे दिखाते हुए कहा – इसने दिया है। परमानन्दजी ने उसे रखने हेतु एक सुन्दर डब्बा दिया। ऐसे त्यागी साधु दुर्लभ हैं। स्वामी विवेकानन्द के शिष्यों में वे एक रत्न थे। मैंने उनसे पूछा – "इतना अभाव कबसे हुआ, दत्त महाशय हर महीने कुछ देते थे न?" वे बोले – "कुछ मतभेद हो जाने से बन्द कर दिया है, अमेरिका से एक अन्य व्यक्ति कभी-कभी कुछ भेजा करता था, अब वह खुद ही साधु हो गया है। वे रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव थे। उन्हें एक बड़ा जीर्ण-शीर्ण कम्बल बिछाते देखकर मैंने कहा – "यदि उसे आप मुझे दे दें, तो मैं एक नया ला दूँ।" वे बोले – "क्या होगा, वह तो नीचे रहता है।" तो भी एक नया ला देने पर उसे उन्होंने फेंक दिया। वह स्वामीजी के समय का कम्बल था और उस पर बैठकर बड़ी साधना की थी। अतः मैंने फनी महाराज से कहा – इनके टुकड़ों से ध्यान के आसन बनवा लीजिए, पर वैसा हो नहीं सका था।

१९३५ ई. की गर्मियों में सोमनाथ के पास तथा वेरावल से डेढ़ मील दूर उस स्थान पर गया, जहाँ व्याध ने श्रीकृष्ण के चरणों में बाण मारा था और जिस पेड़ पर वे पक्षी के समान बैठे थे, वहाँ एक शिव मन्दिर है – शायद बीड़-भंजन नाम है। उस मन्दिर के ऊपर के एक कमरे में मैं एक महीने रहा। यह बिल्कुल समुद्र के पास था। ज्वार आने से हवा में नमी बढ़ जाने से कमरे की सारी चीजें भीग जाती थीं। दो बार सोमनाथ भी गया। देखकर दुखी होता। सम्भवतः भारत के अधःपतन का वही प्रथम चिह्न है। उन दिनों उधर शैव तंत्र की बड़ी प्रधानता थी। जिसके कारण पुजारी लोग विचार -शून्य जैसे मस्त रहते। ऐसा न होने से क्या राजा से कहते कि तुम्हारी सहायता की जरूरत नहीं, शिव स्वयं त्रिशूल से दैत्य का संहार करेंगे। ऐसी मूढ़ता ही उनका काल सिद्ध हुई थी। किसी विशेष भक्त की साधना से तुष्ट होकर भगवान ने

उसकी रक्षा की थी, पर जिनमें वैसा भक्ति-विश्वास नहीं है, उनके लिये विपत्ति काल में उनके द्वारा रक्षित होने की आशा में चुपचाप बैठे रहना, मूर्खता तथा पागलपन मात्र है। पाप का घड़ा भर गया था, पतन का समय आ गया था, इसीलिये उन्हें ऐसी दुर्बुद्धि हुई। सिद्धपुर (मातृस्थान या मातृ-तीर्थ) में भी ठीक ऐसी ही घटना हुई थी। चण्डी देवी खांडे से सबको बकरी के समान काट डालेंगी। इसके फलस्वरूप जो लोग बचे थे, वे भी मुसलमान बोहरा हो गये। अभी भी बोहरों में द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी आदि पदवी मिलती है। वे इसे छिपाकर रखते हैं, बताते नहीं। कुछ काल पूर्व तक ये हिन्दू नाम रखते थे। अब भी इन लोगों का आधा हिन्दू और आधा मुस्लिम नाम होता है, जैसे मुहम्मद अली कांजीभाई (पहला नाम अपना और दूसरा पिता का। कांजीभाई का अर्थ है कानू या कन्हैया भाई)। रोटी-बेटी आपस में ही था; स्वतंत्र थे – न हिन्दुओं के साथ खाना पीना करते और न मुसलमानों के साथ। अब आगा खाँ के चक्कर में आकर मुस्लिम नाम और परिचय देना सीखा है। ... इसके ऊपर है भक्तमाल ग्रन्थ। दुर्बल को और भी दुर्बल बनानेवाली महान् रचना होने के कारण ही दयानन्द सरस्वती इस ग्रन्थ पर बड़े नाराज थे – इसका उल्लेख करते ही चिढ़ जाते थे। उनका ऐसा क्रोध करना बिल्कुल निराधार नहीं था।

दिउ (१९३५)

१९३५ ई. को सर्दियों में दिउ देखने गया। गिर के जंगल से होकर एक नई रेल लाइन शुरू होने से कष्ट नहीं हुआ। दिउ सचमुच ही डिउ (ओसकण) है। ऐसा स्वच्छ शहर देखा नहीं था। काशी जैसी सँकरी गलियों में भी जाकर साफ-सुथरा ही देखा। कहीं पान के पीक के निशान नहीं। कहीं थूक या पेशाब की बदबू या कागज का एक टुकड़ा भी नहीं दिखा। बड़ा हर्षित होकर सोच रहा था कि पुर्तगालियों ने हमारे भाइयों को इतना स्वच्छ रहना कैसे सिखा दिया? इतने में वहाँ के नव-प्रतिष्ठित समाज के मंत्री से भेंट हुई। उन्होंने खुद ही परिचय दिया और अपने साथ समाज-मन्दिर के स्कूल में ले गये। भीतर जाते ही देखा – घोर अव्यवस्था ! चारों तरफ धूल और जाले। हमारे जातिभाई जैसे सर्वत्र रहते हैं, वहाँ भी ठीक वैसा ही था। अत: सविस्मय बिना पूछे नहीं रह सका – "महाशय, क्षमा करेंगे, आपकी देवनगरी का बाह्य रूप देखकर मुग्ध हुआ था। इतना साफ सुथरा शहर जीवन में नहीं देखा था। आप लोगों की संकीर्ण गलियाँ भी बिल्कुल स्वच्छ हैं, पर मकान के अन्दर की अवस्था शोचनीय है। कृपया बतायेंगे कि इसका क्या कारण है?"

वे थोड़े संकुचित होकर बोले कि वे अकेले हैं, अत: थोड़ी गन्दगी है और यहाँ का कानून बड़ा कठोर है। भारतीयों पर बहस आदि होकर निर्णय नहीं होता। भारतीय चाहे कुली हो या करोड़पति – समान व्यवहार पाता है। मान लीजिये – कोई पान का पीक फेंकते पकड़ा गया, तो पहले उस पर जुर्माना लगेगा, दुबारा पकड़े जाने पर बेंत लगेंगे और यदि किसी के मकान के सामने कोई पान की पीक थूके और न पकड़ा जाय, तो घर-मालिक ही पकड़ा जायगा, अत: उसी को जल्दी से धोकर साफ कर देना पड़ता है। देखिये तो, कैसा अत्याचार है। कागज का टुकड़ा पड़ा मिले तो भी वही बात और पेशाब करने से तो बात ही क्या ! दस रुपये जुर्माना और बेंत की मार। अब समझा कि रास्ते इतने स्वच्छ क्यों हैं ! घरों के भीतर दण्डित होने का भय नहीं है, अत: गन्दगी मौजूद है। मैंने कहा – "यह कानून यदि मकान के अन्दर तक रहता, तो भी मैं उसे अत्याचार नहीं मानता। जो कहने से साफ नहीं रहते हैं, उन्हें बाध्य करने के सिवा उपाय भी क्या है ! गन्दे रहना मानो धर्म बन गया है। मन्दिर से लेकर रास्ते-मकान तक सर्वत्र एक ही दशा दिखती है। ऐसा क्यों है? इनको बताने से भी नहीं सीखते हैं। महिलाएँ तो कहने से भी नहीं सुनतीं। अत: दण्ड – कानून द्वारा बाध्य करना ही एकमात्र उपाय है।" उन्होंने देखा कि बात ठीक जगह नहीं कही गयी, समर्थन तो दूर रहा, बल्कि उल्टी ही सुननी पड़ रही है, अत: प्रसंग बदल दिया। लौटते समय गिर के जंगल में 'रामश्याम' नामक गरम पानी का सोता देखने गया। तीन रात वहाँ ठहरा। वहाँ सिंह की दहाड़ तो सुनाई देती ही है, कभी-कभी सिंह दिखाई भी दे जाते हैं, अत: और भी उत्सुकता हुई। लेकिन दुर्भाग्यवश पशुराज के दर्शन नहीं हुए, केवल दहाड़ ही सुन सका। चाँदनी रात थी। देखने के लिये मैं ऊपर बरामदे में बैठा रहता। फिर बिलखा लौटा।

श्रीरामकृष्ण की जन्म-शताब्दी (१९३६)

१९३६ ई. में श्रीरामकृष्ण की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में मठ आने के लिए बार-बार बुलावा आने लगा। आखिरकार पूज्य सुधीर महाराज (शुद्धानन्दजी) ने लिखा – "तुम्हें इतना बुला रहा हूँ, पर नहीं आये।" अब ठहर नहीं सका, दरबार से विदा ली, दीवान त्रिभुवन भाई से विदा लेने जैतपुर गया। उन्होंने अपने लिए एक गर्म बण्डी बनवाई थी, उसे अपने हाथों से मुझे पहनाकर सजल नेत्रों से कहा – "मेरा मन कह रहा है कि अब शायद दुबारा भेंट नहीं होगी। फिर आयेंगे न स्वामीजी?" उस समय उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, पर वह पूर्वाभास सत्य हुआ। मैं असम से बेलूड़ मठ लौट रहा था। इनके भाई का पत्र आया। एक साधारण-से फोड़े का ऑपरेशन करवाने के सात दिन के भीतर उनकी मृत्यु हो गयी। उन्हें मधुमेह था। डाक्टरों ने सावधानी नहीं बरती। शायद बिना यह जाने ही ऑपरेशन किया था। मेरे एक भ्राता -सरीखे सच्चे मित्र चले गये। फिर बिलखा नहीं गया। बात हुई थी, जितने दिन वे हैं, तभी तक रहूँगा। ❖ **(क्रमशः)** ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (२१)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों की जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

गौणी त्रिधा, गुणभेदाद् आर्तादिभेदाद् वा ।।५६।।

अन्वयार्थ – **गौणी** – प्रारम्भिक भक्त की (भक्ति), त्रिधा – तीन प्रकार की, **गुणभेदात्** – गुणों के भेद से, **आर्तादि-भेदात्** – संसारकामी भक्त आदि के भेद से।

अर्थ – प्रारम्भिक भक्त की भक्ति तीन प्रकार की होती है; तीनों गुणों की प्रमुखता से या आर्त (दु:ख से मुक्ति चाहनेवाले) आदि भक्तों के भेद के अनुसार।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात् पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ।।५७।।

अन्वयार्थ – **उत्तरस्मात्** – परवर्ती श्रेणियों से, **पूर्वपूर्वा** – पूर्ववर्ती श्रेणियाँ, **श्रेयाय** – बड़ी, **भवति** – होती हैं।

अर्थ – इनमें पूर्ववर्ती श्रेणियाँ परवर्ती श्रेणियों से उत्कृष्टतर होती हैं।

भक्ति को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। प्रथम पराभक्ति है और दूसरी निम्नतर है, जिसे गौणी भक्ति कहते हैं। गौणी भक्ति भी सत्त्व, रजस् तथा तमस् के गुण-भेदों के अनुसार तीन श्रेणियों में विभाजित हो सकती है। इनमें से सात्त्विक भक्ति पूर्णत: नि:स्वार्थ होती है, यह पूर्ण रूप से ईश्वर निमग्नता है। इसमें भक्त के मन में अपने लिये किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं होती, इसीलिये यह सात्त्विक कहलाती है। दूसरी, राजसिक भक्ति का अर्थ है कि इसमें एक प्रकार का लेने-देने का भाव रहता है, मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ और अच्छा तो यह होगा कि ईश्वर भी मुझसे प्रेम करें। इस प्रकार यह लेन-देन का विषय है। तामसिक का अर्थ है जड़ता अर्थात् उसमें प्रेम की वह प्रचुरता नहीं होती। यह मात्र एक ऐसी अवस्था है, जिसमें मन मानो स्वप्न में विचरण करने के समान उस प्रेम की ओर रेंगता है। यह उस अर्थ में जाग्रत नहीं होता, जिसमें व्यक्ति सदा उस भक्तिभाव से परिपूर्ण रहता हो। अत: इसे तामसिक कहा जाता है। कभी-कभी इस प्रकार की भक्ति का अर्थ यह होता है कि साधक अपनी ही प्रसन्नता और आनन्द चाहेगा। वह प्रेमास्पद की चिन्ता ही नहीं करेगा। इस प्रकार ईश्वर-प्रेम में स्वार्थी होना तामसिक भक्ति कहलाती है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि भक्ति में भी तीन गुण हैं – सत्त्व, रजस् और तमस्।"[1] जिसमें भक्ति का तमस् होता है, उसका विश्वास अटूट है। इस प्रकार का भक्त हठपूर्वक ईश्वर से भिड़ जाता है, मानो डाका डालकर धन छीन लेता है।[2] अत: पहला तो बिल्कुल नि:स्वार्थ है, दूसरा लेनदेन के स्वभाव का है और तीसरा देनेवाला नहीं, बल्कि केवल लेनेवाला होता है। तीनों गुणों के अनुसार भक्तों की ये तीन श्रेणियाँ हैं। भागवत में कपिल ने अपनी माता देवहूति को प्रदत्त उपदेशों में भी इस वर्गीकरण का उल्लेख किया है।

इस सूत्र में जो एक अन्य वर्गीकरण भी बताया गया है – आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी – इन चार में से प्रथम तीन भक्तों के प्रकार हैं। गौणी भक्ति पर विचार करते समय उक्त चार प्रकारों में से अन्तिम – चौथे को छोड़ दिया गया है। अत: सूत्र कहता है कि इन तीनों में से पूर्ववर्ती प्रकार परवर्ती से श्रेष्ठ है। इस प्रकार, आर्त अर्थार्थी से श्रेष्ठ है। गीता[3] में इन चारों प्रकार के भक्तों का वर्णन आया है। नारद केवल तीन को ही लेते हैं। नारद के अनुसार आर्त ऐसा व्यक्ति है, जो असहाय होने के कारण ईश्वर को चाहता है। वह संसार के दु:खों से पीड़ित है और इसी कारण ईश्वर से प्रार्थना कर रहा है। भक्ति का यह राजमार्ग जिज्ञासु के उस मार्ग से बेहतर है, जो कुछ जानने की इच्छा रखता है। आर्त का वैसा भाव नहीं है। जिज्ञासु से भी निम्नतर श्रेणी में है अर्थार्थी, जो केवल अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही ईश्वर को चाहता है।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ।।५८।।

अन्वयार्थ – **अन्यस्मात्** – अन्यों की अपेक्षा, **भक्तौ** – भक्ति-मार्ग के द्वारा, **सौलभ्यम्** – लक्ष्यप्राप्ति सुलभतर है।

अर्थ – अन्य मार्गों की तुलना में भक्ति द्वारा लक्ष्य को प्राप्त करना अधिक आसान है।

---

१. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ९८, २४३
२. वही, पृ. ९९ **३**. गीता, ७.१६

यह सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कहता है कि ज्ञान और कर्म जैसे अन्य मार्गों की अपेक्षा भक्ति अधिक आसानी से प्राप्त हो जाता है। या फिर भक्ति मार्ग के द्वारा लक्ष्य आसानी से प्राप्त हो जाती है। भक्ति की इस सहज उपलब्धता का कारण अगले सूत्र में समझाया गया है।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात् (च) ।।५९।।

अन्वयार्थ – **प्रमाणान्तरस्य** – किसी अन्य प्रमाणों की, **अनपेक्षत्वात्** – अपेक्षा नहीं है, **स्वयं** – स्वतः, **प्रमाणत्वात्** – प्रमाण होने के कारण।

अर्थ – यह किसी अन्य प्रमाण पर आश्रित नहीं है, क्योंकि यह स्वयं ही एक प्रमाण है।

पहले कहा गया था कि अन्य मार्गों की अपेक्षा भक्ति द्वारा ईश्वर अधिक आसानी से प्राप्त होते हैं। यहाँ इस निश्चयात्मक कथन या दावे का कारण दिया गया है। यह सूत्र कहता है कि भक्ति किसी अन्य युक्ति या तर्क पर निर्भर नहीं है। यह स्वयं में प्रमाण है। यह किसी अन्य प्रमाण पर निर्भर नहीं है, यह स्वयंसिद्ध या स्वतःप्रमाण है। जब किसी व्यक्ति में यह भक्ति होती है, तो उसके मन में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि उसके पास भक्ति का होना सच है या नहीं। भक्त के मन में ऐसे प्रश्न बिल्कुल नहीं उठते। अन्य विचार-धाराओं में प्रश्न हो सकता है। व्यक्ति जो अनुभव करता है, उस पर प्रश्न हो सकता है, क्योंकि उसके बारे में कुछ सन्देह रह सकता है।

कर्ममार्ग के माध्यम से व्यक्ति कुछ उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु उसमें यह सन्देह रह सकता है, "क्या यह कर्म सचमुच वांछित परिणाम उत्पन्न करेगा?" कर्म में सर्वदा सन्देह रहता है, क्योंकि हमारे पास इसका कोई युक्तियुक्त या विश्वासोत्पादक प्रमाण नहीं होता। ज्ञानमार्ग में व्यक्ति को निरन्तर तर्क-वितर्क करना होता है। अतः यह तर्क-शक्ति पर निर्भर करता है। इसका क्या प्रमाण है कि व्यक्ति का ज्ञान, चर्चा या युक्तियाँ उसे परम सत्य की ही ओर ले जा रही हैं? यदि ज्ञान में इसका कोई कारण है, केवल तभी व्यक्ति इसे स्वीकार कर सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु भक्ति में ऐसा प्रश्न नहीं उठेगा। जिसमें भक्ति है, वह इसकी वास्तविकता के बारे में दृढ़ निश्चयी होगा और उसके मन में इसकी वास्तविकता के बारे में कोई भी प्रश्न नहीं उठेगा। इसके बारे में उसे कोई सन्देह नहीं रहेगा, क्योंकि यह स्वयंसिद्ध है। इसमें आत्मा का प्रगाढ़तम अनुभव होने के कारण यह स्वयंसिद्ध होता है। अन्य चीजें प्रमाण पर निर्भर होती हैं।

यह सम्भवतः अन्य मार्गों, विशेषकर ज्ञानमार्ग पर थोड़ा दोषारोपण है। जब किसी व्यक्ति में वह सर्वोच्च प्रकार का ज्ञान उदित होता है, तो उसे भी इसके बारे में कोई सन्देह नहीं होगा। अन्य लोग प्रश्न कर सकते हैं, परन्तु वह प्रश्न नहीं करेगा। प्रश्न अन्य लोगों द्वारा उठाये जा सकते हैं।

ऐसा ही भक्ति के क्षेत्र में भी होता है। कोई पूछ सकता है कि ईश्वर-प्रेम के उस प्रगाढ़तम अनुभव को प्राप्त करनेवाले भक्त ने क्या अन्तिम वस्तु अर्थात् सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है? अन्य लोगों के द्वारा यह प्रश्न उठाया जा सकता है, परन्तु स्वयं भक्त को कोई सन्देह नहीं होगा। उसे निश्चय रहता है कि उसने लक्ष्य की अनुभूति कर ली है।

मान लीजिये कि उसे विश्वास है, परन्तु वह विश्वास भ्रम भी तो हो सकता है। वह स्वयं भ्रमित हो सकता है। परन्तु यदि कोई भ्रम कभी टूटता नहीं, तो उसे भ्रम नहीं कहा जा सकता। भ्रम कहा जानेवाला कोई भी भ्रम उस अवस्था में ही भ्रम रहता है, जब उसमें लुप्त होने की सम्भावना हो। मान लीजिये कि मैं किसी रस्सी में सर्प देख रहा हूँ। यह एक भ्रम है, पर हम इसे केवल तभी तक भ्रम कह सकते हैं, जब तक कि उसे फिर साँप न देखकर रस्सी ही देखें। अर्थात् भ्रम का जादू कभी-न-कभी अवश्य टूटेगा। परन्तु भक्तिरूपी यह भावना, भक्त की ईश्वर-प्रेम में तन्मयता कभी भंग नहीं होती। अतः इस चिरस्थायी सम्मोहन को भ्रम नहीं कहा जा सकता।

यही कारण है कि यह किसी अन्य प्रमाण पर निर्भर नहीं है। भक्त को इस बात का दृढ़ विश्वास है कि वह सर्वोच्च अवस्था की अनुभूति कर रहा है। अतः उसकी यह अवस्था किसी परीक्षा या प्रमाण पर निर्भर नहीं करती। यह अनुभूति ज्ञान के किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करती। यह स्व-संवेद्य (प्रत्यक्ष) और स्वतःसिद्ध होती है।

शान्तिरूपात् परमानन्द रूपाच्च ।।६०।।

अन्वयार्थ – **शान्तिरूपात्** – शान्ति के स्वरूपवाली, **च** – और, **परमानन्दरूपात्** – परमानन्द के स्वरूपवाली होने से।

अर्थ – शान्ति के स्वरूपवाली और परमानन्द के स्वरूप-वाली होने के कारण (यह भक्ति अन्य मार्गों से सुगम है।)

भक्ति को सर्वाधिक सुगम मार्ग सिद्ध करने के लिये प्रथम कारण यह बताया गया कि यह अपना प्रमाण स्वयं है। अब इस सूत्र में बताया जा रहा है कि भक्ति परम शाश्वत शान्ति के स्वरूपवाली और परमानन्द के स्वरूपवाली भी है।

यहाँ परम शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जागतिक सफलता की प्राप्ति या इन्द्रियों के कुछ भोग्य विषयों को हासिल कर लेने में हमें थोड़ा-सा सुख प्राप्त हो सकता है। परन्तु यह परमानन्द नहीं है। दूसरा कोई भी सुख परमानन्द की अपेक्षा उच्चतर नहीं है, कोई भी सुख अधिक स्थायी नहीं है, कोई भी सुख अधिक काल तक टिकनेवाला नहीं है। भक्ति का यह आनन्द सर्वोच्च स्वरूप का है और इसे किसी अन्य प्रमाण के द्वारा जाँचने-परखने की कोई आवश्यकता नहीं।

❖ (क्रमशः) ❖

ईशावास्योपनिषद् (१९)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

ऋषि कहते हैं जो अविद्या के उपासक हैं, वे घोर अन्धकार में जाते हैं। अविद्या का क्या अर्थ है? अर्थात् जो ज्ञान हमें आत्मा और परमात्मा से दूर करे, उस ओर हमें प्रेरित न करे, वह ज्ञान अविद्या है। इस दृष्टि से सारा विज्ञान अविद्या है। अब इस अविद्या के भी दो लक्षण हैं। एक है – प्रपंच का ज्ञान, जो इन्द्रियों द्वारा होता है। इन्द्रियों के द्वारा होने वाला ज्ञान हमेशा अन्य का, दूसरे का होगा। इन्द्रियाँ स्वयं को नहीं जान सकतीं। कान में विभिन्न ध्वनियाँ आती हैं, तब वह सुनता है। आँखें अन्य वस्तुओं को देखती हैं। इस प्रकार इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान हमेशा अन्य का होगा, दूसरी वस्तु का होगा, जो दृश्य है। लेकिन द्रष्टा अलग है। जब दूसरों का ज्ञान होगा, जो कि इन्द्रियों के द्वारा होता है, तो उसके दो परिणाम होंगे। क्या होंगे? वह या तो अच्छा होगा या बुरा होगा। शास्त्र की भाषा में इष्ट होगा या अनिष्ट होगा। हमने बहुत सुन्दर फल देखा। आम देखा तो उसे देखकर इष्ट का ज्ञान, प्रिय का ज्ञान होता है। मधुमक्खियों के छत्ते में यदि भूल से ठोकर लग जाय, तो उनके दंश से जो ज्ञान होगा, वह अनिष्ट का ज्ञान होगा। आम को देखना प्रिय ज्ञान और घृणित वस्तु आदि को देखना अप्रिय ज्ञान। ये दो प्रकार के ज्ञान प्रपंच के ज्ञान में होते हैं। यदि ज्ञान प्रिय-अप्रिय हो, तो इसका परिणाम क्या होता है? केवल सांसारिक ज्ञान से क्या हानि होगी और आध्यात्मिक ज्ञान से क्या लाभ होगा? आइये, इस विषय पर थोड़ा विचार करें। यह स्मरण रखें कि यह सारी चर्चा साधना की दृष्टि से हो रही है, ताकि हम पूर्णता की ओर बढ़ सकें।

संसार या प्रपंच का ज्ञान, या इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सदैव आकांक्षा और कर्म उत्पन्न करता है। आम देखते हैं तो आम खाने की इच्छा होती है और उसे हम खा लेते हैं। मधुमक्खियाँ देखते हैं, तो भागने का प्रयत्न करना पड़ता है। संसार या प्रपंच का ज्ञान चाहे वह जितना भी महान् हो, जितनी भी उसकी विधियाँ हों, जितने भी उसके आयाम हों, जितनी भी विभिन्नतायें हों, वह मन में इच्छा उत्पन्न करेगा और हमें कर्म में प्रेरित करेगा। इसलिये 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते' – जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे लोग घोर अन्धकार में जाते हैं। इस घोर प्रपंच में उलझने के कारण दिन-रात इच्छा और कर्म की प्रवृत्ति होती है और निरन्तर कर्म में लगे रहते हैं। अर्थात् जो लोग सकाम कर्म करेंगे, किसी कामना से कर्म करेंगे कि हमें यह मिल जाय या हम ऐसे हो जायँ, तो उन लोगों को जन्म-मरण के चक्कर में घूमना पड़ेगा। यह अविद्या है। अतः प्रपंच के ज्ञान से हमें शान्ति नहीं मिल सकती है।

अब विद्या पर विचार करें 'स्व' का ज्ञान करना हो तो 'पर' को छोड़ना पड़ेगा। जो दृश्य है, उसको छोड़कर जो द्रष्टा है उसको जानना पड़ेगा। द्रष्टा को जानने के लिये दृश्य से आवृत्तचक्षु होना पड़ेगा। दृश्य से आँखों को मूँद लेना पड़ेगा। और जब स्व का ज्ञान हो जायेगा, जब पर का ज्ञान नहीं होगा, तो फिर किसी कर्म-प्राप्ति की इच्छा नहीं होगी। क्योंकि जब दूसरा कुछ हो, तभी तो उसे कुछ करने की इच्छा होगी, तभी तो कर्म होगा। जब दूसरा है ही नहीं, केवल स्व का ही ज्ञान हो रहा है, तब क्या प्राप्त करने की इच्छा होगी? तब क्या होगा? तब तृप्ति होगी, पूर्ण तृप्ति होगी। यदि आकांक्षा, इच्छा नहीं होगी तो कर्म भी नहीं होगा। जैसे ही इच्छा और कर्म की निवृत्ति हो जायेगी, वैसे ही साधक अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायेगा और परमशान्ति को प्राप्त करेगा। यह अपने स्वयं के ज्ञान से ही सम्भव है। बाहर के ज्ञान से तो इच्छा और प्रवृत्ति, तदनुसार निरन्तर कर्म में लगे रहना और 'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं' के चक्र में फँसे रहना होगा। यदि बाहर का ज्ञान हमने छोड़ा और स्व का, भीतर के ज्ञान का अभ्यास किया तो, अपने-आप को जान लेने पर और कुछ जानना या पाना शेष नहीं रह जाता। जिसने अपने आप को जान लिया, उसकी इच्छाओं की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। उसके बाद ही पूर्ण तृप्ति होगी। पूर्ण तृप्ति होने पर फिर किसी कर्म की आवश्यकता नहीं रहेगी। कर्म की निवृत्ति और पूर्ण तृप्ति ही आत्मानुभूति है।

आलस्य, प्रमाद में भी कर्म से विरति होती है। झंझट के भय से भी कहीं-कहीं इच्छाओं की निवृत्ति-सी दिखायी देती है। यह अविद्या का लक्षण है। यह अविद्या अन्धकार है। इसका अर्थ है आत्मज्ञान से रहित होना। जो व्यक्ति जितना अधिक भोगी होता है, वह उतना अधिक नीचे जाता है। जो सकाम रूप से पुण्य कर्म करता है, वह पुण्य कर्मों के परिणामस्वरूप देवयोनि को प्राप्त होता है और देवयोनि तो महाभोग योनि है। इस योनि में बूढ़ापा, भूख-प्यास, मृत्यु नहीं है, दीर्घ काल तक यौवन रहने का अवसर है, ऐसी उस

योनि में जीव कितना रमण करेगा? जब इस मर्त्यलोक में बुढ़ापा, रोग-शोक-मृत्यु है, सब प्रकार की भोग में बाधा है, तब तो हम भोग में इतने डूबे हैं। देवता चिरयोनि के हैं। देवयोनि में भोग से निवृत्त होने की सम्भावना ही नहीं है, तब हमारी क्या दशा होगी? अत: इस मनुष्य-लोक में ही मुक्ति का प्रयास सम्भव है।

इस उपनिषद के पहले और दूसरे मन्त्र में जो बात कही गयी है, ऐसा अनासक्त पूर्वक कर्म वह व्यक्ति करता है, जो ईश्वर-प्राप्ति या आत्म-साक्षात्कार करना चाहता है। किन्तु जिस व्यक्ति ने शास्त्रों को तो पढ़ लिया है, सुन लिया है, उसका बौद्धिक विकास हो गया है, किन्तु उसकी अनुभूति नहीं हुई और बिना अनुभूति हुये ही यदि उसने निष्काम कर्म करना छोड़ दिया, तो वह व्यक्ति घोर अन्धकार में जाता है – 'अन्धं तम: प्रविशन्ति'।

विद्या (शास्त्र विद्या) को जानकर जिसने निष्काम कर्म करना छोड़ दिया, जो वर्णाश्रम धर्म के अनुसार उसे मिला था, तो यह अज्ञान है। एक सद्गृहस्थ था। उसने न तो शास्त्र के निर्देशानुसार आचरण किया, और न उपासना ही की। यहाँ तक कि सब कुछ छोड़कर बहुत से शास्त्रों को पढ़कर वह उपासना को भी छोड़ देता है। क्योंकि उसे सब मिथ्या लगता है। ऐसा एक तथाकथित साधु भगवान श्रीरामकृष्ण देव के पास दक्षिणेश्वर आया था। ठाकुर ने सुना कि अद्वैत की साधना करने वाला यह साधु स्खलित हो गया है, तो ठाकुर ने एक दिन उसे कहा, तुम तो अद्वैत के साधक हो, किन्तु लोग तुम्हारे चरित्र पर आक्षेप करते हैं कि तुमने ऐसा-ऐसा किया है। तो वह साधु कहता है, अरे महाराज आइये, आपको अभी बताता हूँ। वेदान्त के एक-दो श्लोकों का उदाहरण देकर उसने कहा था कि यह जगत् तीन काल में मिथ्या है, तो मेरा असत् आचरण कैसे सत्य हो सकता है? यह भी मिथ्या है। ठाकुर ने कहा, 'अरे, तेरे ऐसे वेदान्त पर मैं थूकता हूँ'। ऐसा वेदान्त जो मुँह में तो है, आचरण में नहीं है, यह अविद्या है। कोरे शब्दजाल में जो लोग रत हैं, वे उन अज्ञानियों से अधिक अंधकार में जाते हैं। क्योंकि जो अज्ञानी हैं, उनसे आशा की जा सकती है, उन्हें ज्ञान का पिपासु बनाया जा सकता है। वह सिखने के लिये तैयार हो सकता है। किन्तु वैसा तथाकथित ज्ञानी जो कहता है अरे, हमने तो यह पढ़ा है, वहाँ पर क्या सुनने जाऊँगा? दम्भ के कारण उसकी कुछ सीखने की इच्छा नहीं रहती, तो ऐसा व्यक्ति अंधकार में जाता है।

ऐसा क्यों होता है? इस रहस्य का उद्घाटन ऋषि अगले दसवें मन्त्र में बताते हैं –

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ।।१०।।

– कोई विद्या की उपासना का फल दूसरा और कोई अविद्या की उपासना का फल कुछ दूसरा ही बताते हैं, ऐसा हमने उन धीर, ज्ञानी पुरुषों से सुना है, जिन्होंने उसे व्याख्या करके अच्छी तरह से समझाया था।

इस मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि विद्या का फल अलग और अविद्या का फल अलग है। ये दोनों फल परस्पर विरोधी हैं। अब यहाँ वैदिक ऋषियों की विशेषता देखिये। वे सब ऋषि पूर्ण पुरुष थे। वे कहते हैं 'इति शुश्रुम' हमने सुना है। किससे सुना है? धीराणां – धीर पुरुषों से। हमने उन धैर्यशाली पुरुषों से सुना था, जिन्होंने हमें अच्छी तरह से समझाया था। ये ऋषि स्वयं बड़े ज्ञानी और अहंकाररहित थे। क्योंकि जो सचमुच ज्ञानी होता है, उसके हृदय से अभिमान निर्मूल हो जाता है। वह कभी इस बात की घोषणा नहीं करता कि मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ। वैसे निरहंकारी ऋषि कहते हैं कि मैं स्वयं नहीं कह रहा हूँ, मैंने उन महापुरुषों से सुना है। वे ऋषि कैसे थे? वे 'विचक्षण:' – अत्यन्त योग्य महापुरुष थे। 'धीराणां' – धीर पुरुष थे। ऐसे धीर पुरुषों ने हमें इस रहस्य को बताया।

धीर पुरुष कौन है? विकार हेतो: सति येषां चेतांसि न विक्रियते, तदैव धीरा: – विकार का कारण हो, प्रलोभन का कारण हो, क्षोभ का कारण हो, दु:ख का कारण उपस्थित हो, कोई अपमान कर रहा हो, विभिन्न प्रकार के लोग सामने उपस्थित हों, भोग करने की सारी सुविधा भी हो, किसी प्रकार की कोई बाधा न हो, ऐसी अवस्था होने पर भी येषां चेतांसि न विक्रियते – जिनके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता है, ऐसा व्यक्ति धीर कहा जाता है।

ऐसा धीर व्यक्ति कौन है जिसके हृदय में विकार उत्पन्न न हो? इस सम्बन्ध में मैं एक घटना का उल्लेख करता हूँ। इससे विषय-वस्तु और स्पष्ट हो जायेगी। भगवान शुकदेव जैसे व्यक्ति, राजा जनक के दरबार में गये। जब राजा जनक को समाचार मिला कि भगवान व्यास के पुत्र परमज्ञानी भगवान शुकदेव आ रहे हैं, तो उन्होंने उनके लिये सब व्यवस्था करके रखी। शुकदेव जब राजा जनक जी के राज-महल में पहुँचे, तब द्वार पर प्रहरी थे। उन्होंने कुश का आसन महल के बाहर बिछा दिया और शुकदेव को वहीं बैठने के लिये इशारा कर दिया। वे तीन दिन तक, दिन-रात जिस स्थिति में थे, उसी स्थिति में निर्विकार भाव से कुशासन पर वहीं बैठे रहे। जब तीसरा दिन समाप्त हुआ, तब राजा के मन्त्री आये और परम सम्मान के साथ उन्हें महल के भीतर ले गये। जो भोग की सामग्री देवताओं को भी उपलब्ध नहीं है, उन सभी प्रकार की भोग-सामग्रियों की व्यवस्था वहाँ की गयी थी। फिर भी वे निर्विकार ही रहे। जिस प्रकार महल के बाहर वे कुशासन पर तीन दिन तक निर्विकार बैठे थे, उसी

प्रकार भोग-सामग्रियों के मध्य भी वे निर्विकार रहे। यह है धीर पुरुष का लक्षण। राजा जनक ने समझ लिया कि ये धीर पुरुष हैं। किन्तु लोकशिक्षा के लिये एक बात शेष रह गयी थी। इसलिये उन्हें ससम्मान दरबार में बुलाया गया। शुकदेवजी ने कहा कि मेरे पिताजी ने तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये मुझे आपके पास भेजा है। राजा जनक ने मन को विभिन्न प्रकार से आकर्षित करने के उपकरणों से अपने दरबार को सजा रखा था। राजा जनक ने दूध से लबालब भरा हुआ एक कटोरा शुकदेव के हाथ में दिया और कहा कि यह कटोरा लेकर तुम इस दरबार की परिक्रमा करो, किन्तु इसमें से एक भी बूँद दूध न गिरे। शुकदेवजी ने कटोरा लेकर निर्विकार चित्त से दरबार की परिक्रमा की। किन्तु एक भी बूँद दूध उसमें से नहीं गिरा। क्यों नहीं गिरा? क्योंकि शुकदेवजी का मन परम एकाग्र था। वहाँ के आकर्षणों और विकर्षणों ने उनके मन को स्पर्श नहीं किया। धीर पुरुष कभी भूल नहीं कर सकता, इसलिये उनसे भूल नहीं हुई। ऐसे ब्रह्मज्ञानी पुरुषों ने हमें यह ज्ञान दिया है – 'धीराणां ये नः तद् विचचक्षिरे '।

विद्या का फल एक प्रकार का होता है और अविद्या का फल दूसरे प्रकार का होता है। आचार्य शंकर के अनुसार विद्या के उपासक अर्थात् जो लोग देवलोक में जाना चाहते हैं वे और अविद्या के उपासक अर्थात् वे लोग जो दिन-रात सकाम कर्म में लगे हैं। किन्तु अपने जीवन में हम जिस अवस्था में हैं, जिस प्रकार की साधना हम करना चाहते हैं, उस दृष्टि से हम विचार करें तो विद्या और अविद्या का सामान्य अर्थ हमें पहले समझना होगा। अविद्या – जो संसार में फँसा दे और विद्या – जो इससे मुक्त कर दे। इन दोनों विद्याओं का अलग-अलग फल मिलता है। आत्मज्ञान के अर्थ में विद्या को लें, तो हमें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। पर यहाँ ऋषि कहते हैं कि अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते। इसका क्या तात्पर्य है? तात्पर्य यह है कि जीवन में ज्ञान और कर्म का समुच्चय करना चाहिये। दोनों को लेकर चलने की आवश्यकता है। ईशावास्य का प्रथम मन्त्र ज्ञान प्रधान है, उसी मन्त्र की यह व्याख्या है। हमें इस तत्त्व को ध्यान में रखना होगा कि यह विश्व ईश्वर से परिव्याप्त है। बुद्धि से उसे जानने के पश्चात् भी हमें हृदय में उसकी अनुभूति नहीं हो रही है। क्योंकि हमारा हृदय अशुद्ध है। हृदय की शुद्धि कैसे होगी? इसके लिये दूसरा मन्त्र 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' निष्काम कर्म, प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करने की प्रेरणा देता है। जीवन में कर्म और ज्ञान का, संसार के इन सारे वैभवों का उपयोग हो, उपभोग नहीं। हमारा सारा प्रयत्न ईश्वर-प्राप्ति के लिये हो। तभी जीवन की सार्थकता है।

❖ (क्रमशः) ❖

लक्ष्य की ओर

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

कब-तक तुम सपना देखोगे,
जागो, तनिक विचार करो।
स्वप्न देखना बुरा नहीं है,
किन्तु उसे साकार करो।।

शेखचिल्लियों के समान नित
स्वप्न देखना ठीक नहीं।
शुभ विचार साकार करो तुम,
अच्छी जीवन-लीक यहीं।।

आयें जो बाधायें पथ पर,
उनको तुम झकझोर चलो।
करके दृढ़ संकल्प अभी तुम
उठो – लक्ष्य की ओर चलो।।

धरती में गड़ गया बीज जो,
उसका ही उद्धार हुआ।
अंकुर बनकर बना वृक्ष फिर
फूल और फलदार हुआ।।

जो मरने से डरता, उसका
होता है उत्थान कहाँ?
बिना हुए उत्थान, किसी को
कभी मिला सम्मान कहाँ?

उठो न आलस करो और फिर
शुभ पथ पर प्रस्थान करो।
बन दिनमान नहीं सकते, तो
जीवन दीप-समान करो।।
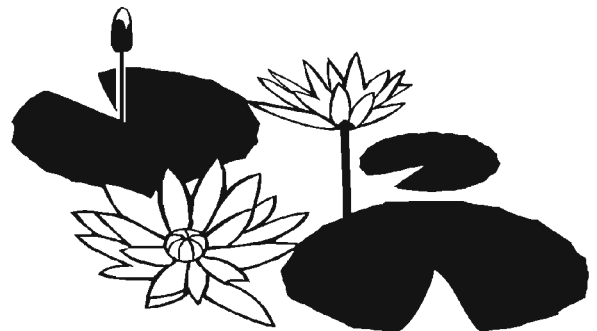
मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(८९) सुखद लगत दुःख देत

'ईसप-नीति' के रचयिता वस्तुतः एक गुलाम थे। उनका मालिक एक व्यापारी था। एक बार व्यापार के लिए विदेश जाते समय उसने ऊँटों, खच्चरों तथा गधों के साथ ही गुलामों पर भी वस्त्र, बर्तन, खाद्यान्न तथा अन्य जरूरी चीजें लदवायीं। जहाँ अन्य गुलामों ने हल्की तथा छोटी चीजों को अपनी पीठ पर लदवाया, वहीं ईसप ने खाद्यान्नों का भार उठाना पसन्द किया। ईसप का बोझ सबसे भारी होने के कारण वह सबसे अन्त में धीरे-धीरे चल रहा था। इसे देख दूसरे गुलाम मन-ही-मन हँसते थे। वे स्वयं को धूर्त और चतुर समझते थे, पर बाद में उन्होंने पाया कि चतुर तो ईसप था। पहला पड़ाव आने पर काफिला रुक गया और सभी एक पेड़ के नीचे विश्राम करने लगे। बाद में उन्होंने खाद्यान्न की गठरियों में से कुछ चीजें निकालकर खाईं। काफिला जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया, ईसप का भार वैसे-वैसे घटता गया, जबकि दूसरे गुलामों का भार ज्यों-का-त्यों रहा और उन्हें पूरा बोझ वहन करना पड़ा। उन्होंने ईसप से कहा, "हम अपने को चतुर समझते थे, लेकिन वस्तुतः चतुर तो तुम्हीं निकले।"

हमारा मन बड़ा स्वार्थी है और कष्ट झेलने से कतराता रहता है। किसी भी चीज को अंगीकार करते समय हम सुख की कामना करते हैं, परन्तु यह नहीं सोचते कि सुख क्षणिक होता है और बाद में हमें दुःखों का बोझ वहन करना पड़ेगा।

(९०) राम पियारा छोड़कर

सन्त जसवन्त नन्दूरबार के समीपस्थ ग्राम कुकुरमुण्डा के निवासी थे। उनका साहूकारी का व्यवसाय था, लेकिन अपनी कमाई को वे गरीबों में बाँट दिया करते थे। एक बार वे काशी गये। उन दिनों सन्त तुलसीदास एक गुफा में रहते थे। सन्त जसवन्त उनसे मिलने गुफा में गये। दोनों की भेंट हुई। जसवन्त ने गोस्वामीजी से कहा कि वे अयोध्या-मथुरा की यात्रा पर जा रहे हैं। उनकी इच्छा है कि यात्रा में वे भी उनका साथ दें। गोस्वामीजी बोले कि वे अयोध्या तक जा सकते हैं, मगर मथुरा नहीं। कारण पूछने पर उन्होंने कहा –

मेरा नेम सुनो जसवंता। मेरा मन नहीं कहीं लुभन्ता।
राम बिन दरसूं नहीं कोई। राम बिना स्परसूं नहीं कोई।
फोरूं नयन और जो दरसूं। काटूं कर और जो स्परसूं।

तब जसवन्त ने कहा, "यह आपने कैसे समझ लिया कि श्रीराम अयोध्या में ही वास करते हैं, अन्यत्र नहीं। मथुरा भले ही श्रीकृष्ण की कर्मभूमि है, मगर ईश्वर सर्वत्र विराजमान होने के कारण श्रीराम के दर्शन मथुरा में भी हो सकते हैं।" गोस्वामीजी को उनके कथन पर विश्वास नहीं हुआ। जसवन्त के बहुत आग्रह करने पर वे अयोध्या के बाद मथुरा गये। मथुरा में जसवन्त उन्हें श्रीकृष्ण के मन्दिर में ले गये और श्रीराम से तुलसीदास जी को दर्शन देने को कहा। मन्दिर के अन्दर जाने पर तुलसीदास जी को श्रीराम की प्रतिमा दिखाई दी, जबकि वह मन्दिर श्रीकृष्ण-मन्दिर के नाम से परिचित था। तब उन्हें इस बात की प्रतीति हुई कि श्रीराम और श्रीकृष्ण भले ही अलग-अलग हैं, किन्तु दुष्टों के दलन हेतु श्री विष्णु ही अलग-अलग रूपों में इस धरती पर अवतरित हुए हैं। शुद्ध भाव से की गई आराधना तथा दृढ़ निष्ठा के साथ जो भक्त उनका स्मरण करता है, सर्वान्तर्यामी कृपासिन्धु श्रीराम उसे दर्शन देकर उसकी इच्छा-पूर्ति करते हैं।

९१. कबीर सोई पीर है, जो जाने पर पीर

दक्षिणी अफ्रीका से भारत लौटने पर गाँधीजी अहमदाबाद गये। धोती-कुरता और पगड़ी ही उनका पहनावा था। उन दिनों अहमदाबाद के मिल-मालिकों और मजदूरों में विवाद हुआ। विवाद इतना प्रबल था कि मजदूरों ने हड़ताल कर दी, फलस्वरूप मिलों पर तालाबन्दी हुई। इससे मिल मालिकों का तो नुकसान हुआ, पर बेरोजगार हो जाने से मजदूरों की भूखों मरने की नौबत आ गई। गाँधीजी को जब इसका पता चला, तो वे उनसे मिलने गये। उनकी हालत उनसे देखी नहीं गई। फटे-पुराने वस्त्रों और अधनंगे बच्चों को देख गाँधीजी का हृदय द्रवित हो उठा। सहसा उनका ध्यान स्वयं की ओर गया तो वे सोचने लगे कि इनके और मेरे वस्त्रों में कितना अन्तर है। जहाँ इन्हें पहनने को वस्त्र नहीं है, वहीं मेरी पगड़ी ही कितनी लम्बी है। वह अकेली ही किसी बच्चे का तन ढँकने में सक्षम है। क्या मेरे लिए इतनी लम्बी पगड़ी पहनना उचित है? तभी उन्होंने निश्चय किया कि आज से पगड़ी पहनना बन्द करुँगा और उसकी जगह टोपी पहनी जाएगी। उन्होंने उस दिन से मिल में बनी खादी की टोपी पहननी शुरू की। यही टोपी 'गाँधी-टोपी' कहलाई।

जो स्वधर्म-परायण होता है, वही दीन-हीन श्रमिकों का ख्याल करता है और उनके दुःख-दर्द दूर करने की सोचता है। और जिसका हृदय दूसरों का दुःख दूर करने में सहानुभूति-शील है, वही आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होता है। ❑

अमेरिका में धर्म-प्रचार

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

शिकागो व्याख्यानों का प्रभाव

शिकागो की विश्व-धर्म-महासभा की सामान्य समिति के अध्यक्ष श्री जे. एच. बैरोज ने लिखा था – "स्वामी विवेकानन्द ने अपने श्रोताओं पर अद्भुत प्रभाव विस्तार किया।"

स्वामीजी ने स्वयं भी अपनी इस अभूतपूर्व सफलता के विषय में चेन्नै के अपने शिष्य आलासिंगा को लिखा था – "अखबारों में मेरे बारे में जो सब बातें निकली हैं, उनकी कतरनें यदि मैं तुम्हें भेजूँ, तो तुम विस्मित रह जाओगे। पर तुम जानते हो कि मैं नाम-यश से घृणा करता हूँ। इतना ही बताना काफी होगा कि मैं जब भी मंच पर जाता था, तो कर्णभेदी करतल-ध्वनि से मेरा स्वागत होता था। प्राय: सभी अखबारों ने मेरी प्रशंसा के पुल बाँध दिये और उनमें से जो बड़े कट्टर थे, उन्हें भी मानना पड़ा कि 'यह सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व का अद्भुत वक्ता ही महासभा का सर्वप्रमुख आकर्षण रहा' आदि। तुम्हारे लिए इतना ही जान लेना यथेष्ट होगा कि इसके पूर्व कभी किसी प्राच्य व्यक्ति ने अमेरिकी समाज पर इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला।"

फिर उन्होंने जूनागढ़ के दीवान श्री हरिदास विहारीदास देसाई को लिखा था – "मैं धर्म-महासभा में बोला था और उसका क्या फल हुआ ! ... जो दो-चार पत्र-पत्रिकाएँ मेरे पास पड़ी हैं, उन्हीं से कुछ उद्धरण भेजता हूँ। डींग हाँकने की मेरी इच्छा नहीं है, पर आपके प्रेम के कारण आपमें विश्वास करके मैं इतना जरूर कहूँगा कि इसके पहले किसी भी हिन्दू ने अमेरिका को ऐसा प्रभावित नहीं किया, और मेरे आने से यदि कुछ भी न हुआ हो, तो इतना अवश्य हुआ है कि अमेरिकी लोगों को मालूम हो गया है कि भारत में आज भी ऐसे मनुष्य उत्पन्न हो रहे हैं, जिनके चरणों में सभ्य-से-सभ्य राष्ट्र भी नीति और धर्म का पाठ पढ़ सकते हैं।... कुछ पत्रिकाओं के अंश नीचे उद्धृत करता हूँ –

न्यूयार्क क्रिटिक – 'संक्षिप्त भाषणों में से अधिकांश वाग्मितापूर्ण थे, तथापि धर्म-महासभा की मूल नीति तथा सीमाओं का उन हिन्दू संन्यासी ने जितने अच्छे ढंग से वर्णन किया, वैसा किसी ने नहीं किया। मैं उनका पूरा भाषण उद्धृत करता हूँ, पर श्रोताओं पर उसका जो प्रभाव हुआ, उसके बारे में मात्र इतना ही कह सकता हूँ कि वे एक दैवी-अधिकार-सम्पन्न वक्ता हैं। वे अपनी सरल उक्तियों को जिस मधुर भाषा में व्यक्त करते थे, वह उनके गैरिक वस्त्र तथा बुद्धिदृप्त तेजस्वी मुखमण्डल की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक था।' उसी पृष्ठ पर आगे है – 'उनकी शिक्षा, वाग्विदग्धता तथा मनमोहक व्यक्तित्व ने हमारे सम्मुख हिन्दू सभ्यता की एक नवीन धारा का उद्घाटन किया है। उनके प्रतिभादीप्त मुखमण्डल तथा गम्भीर व सुललित स्वर ने लोगों को अनायास ही वशीभूत कर लिया है और अपनी इस भाग्य-लब्ध सम्पदा की सहायता से इस देश के अनेक गिरजों और क्लबों में उनके प्रचार के फलस्वरूप अब हम उनके धर्ममत से परिचित हो चुके हैं। वे किसी तरह की तैयारी करके व्याख्यान नहीं देते, अपितु अपने वक्तव्य को धाराप्रवाह रूप में कहते हुए अपूर्व कौशल तथा आन्तरिकता के साथ निष्कर्ष तक पहुँचते हैं और अन्तर की गहन प्रेरणा कभी-कभी उनके भाषण को अपूर्व वाग्मिता से युक्त कर देती है।'

हेराल्ड (यहाँ का सर्वश्रेष्ठ समाचार-पत्र) – 'विवेकानन्द निश्चित रूप से महासभा के महानतम व्यक्ति हैं। उनके व्याख्यान सुनने के बाद हमारी समझ में आ गया है कि उस ज्ञानी राष्ट्र में धर्मप्रचारक भेजना कैसी मूर्खता है !' "

स्वामीजी के प्रभाव के बारे में 'नार्दम्प्टन डेली हेराल्ड' ने लिखा – "विवेकानन्द का भाषण कार्यक्रम के अन्त में ही रखा जाता था, उद्देश्य था लोगों को आखिरी तक बैठाए रखना। किसी गर्मी-भरे दिन जब किसी नीरस वक्ता के लम्बे भाषण के फलस्वरूप सैकड़ों लोग हॉल से बाहर जाने लगते, तो विराट् श्रोतृमण्डली को पकड़े रहने के लिए केवल इतनी घोषणा ही यथेष्ट होती कि अन्तिम प्रार्थना के पूर्व विवेकानन्द थोड़ा सा कुछ कहेंगे। उन स्वनामधन्य व्यक्ति के पन्द्रह मिनट का व्याख्यान सुनने के लिए वे लोग घण्टों बैठे रहते।"

महासभा की विज्ञान शाखा के सभापति श्री मरविन-मेरी स्नेल ने लिखा था – "महासभा तथा अमेरिकी जनता पर हिन्दू धर्म ने जैसा प्रभाव डाला, वैसा और कोई भी सम्प्रदाय नहीं कर सका ...। हिन्दुओं के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे स्वामी विवेकानन्द; जो असन्दिग्ध रूप से महासभा के सर्वाधिक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली व्यक्ति भी थे। महासभा के कक्ष में तथा मेरे सभापतित्व में परिचालित उसकी विज्ञान शाखा के अधिवेशनों में वे प्राय: व्याख्यान देते थे और हर बार किसी भी ईसाई या गैर-ईसाई वक्ता की अपेक्षा अधिक उत्साह के साथ उनका स्वागत होता। वे जहाँ भी जाते, जनता उन्हें घेर लेती और उनका प्रत्येक शब्द ध्यानपूर्वक सुनती। कट्टर-से-कट्टर ईसाई भी उनके बारे में कहते कि वे सचमुच ही मनुष्यों में महाराजा हैं।"

काफी काल बाद महासभा में स्वामीजी की उपस्थिति के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीमती एनी बेसेंट ने लिखा था – "शिकागो के धूम्रमलिन क्षितिज पर भारतीय सूर्य के समान दीप्तिमान, सिंह के समान उन्नत सिर, अन्तर्भेदी दृष्टि, चंचल ओष्ठद्वय, मनोहर तथा द्रुत चाल, गैरिक वस्त्रों में विभूषित एक महिमामय मूर्ति – ऐसी हुई स्वामी विवेकानन्द के बारे में मेरी धारणा, जब मैं महासभा के प्रतिनिधियों के लिए निर्धारित कमरे में पहली बार उनसे मिली। वे एक संन्यासी के रूप में परिचित थे, जो कि उचित ही था, पर वे थे एक योद्धा संन्यासी; और पहली भेंट के समय वे मुझे संन्यासी की अपेक्षा योद्धा ही अधिक प्रतीत हुए थे। क्योंकि जब वे प्राचीनतम जीवित धर्म के प्रतिनिधि के रूप में मंच से उतरकर आते, आयु में सबसे कम होकर भी उत्सुक दर्शकों से घिरे हुए, वे इस बात को मानने के लिए कतई राजी न थे कि जिस प्राचीन धर्म के प्रवक्ता थे, वह किसी भी दृष्टि से वहाँ उपस्थित सर्वश्रेष्ठ धर्म से बिन्दुमात्र भी न्यून है; और तब उनके अंग-अंग से देश तथा जाति का गर्व फूट पड़ता सा प्रतीत होता था। चंचल, तेज और उद्धत पश्चिम में अपने इस सन्देशवाहक सन्तान को भेजकर भारत को लज्जित होने का कोई कारण नहीं। वे भारतवर्ष का सन्देश लेकर आए थे और भारत के नाम पर ही उन्होंने उसका प्रचार किया। जिस महिमामण्डित देश से प्रतिनिधि के रूप में वे आये थे, उसकी मर्यादा का उन्हें सदैव भान रहता था। वे उद्यमशील, शक्तिमान और उद्देश्य में अटल थे; मनुष्यों के बीच एक मनुष्य के रूप अपना सिर ऊँचा करके खड़े होते थे और सर्वदा अपने मतों का समर्थन करने की उनमें क्षमता थी।

"मंच पर उनका एक अन्य रूप ही दीख पड़ता। वहाँ भी अपनी मर्यादा, गुणावली और शक्ति के बारे में एक जन्मजात विश्वास उनमें झलकता रहता; परन्तु जो आध्यात्मिक सन्देश लेकर वे आये थे, उसके अनुपम सौन्दर्य के सामने – भारत के हृदयस्वरूप – भारत के प्राणस्वरूप – प्राच्य के उस अतुलनीय सन्देश, उस अत्यद्भुत आत्मविद्या के गाम्भीर्य के सामने वह फीका पड़ जाता था। विशाल जनसमुदाय भावविभोर होकर उनके मुख से उच्चरित शब्दों के लिए कान खड़े रखता था कि कहीं एक भी शब्द से वंचित न रह जाय, एक भी भंगिमा छूट न जाय। सभागार से निकलते हुए एक श्रोता कह उठा – 'ऐसे व्यक्ति को हम जंगली धर्मवाला कहते हैं और उनके देश में मिशनरी भेजते हैं ! बल्कि उचित तो यह होगा कि वे लोग ही हमारे बीच मिशनरी भेजें'।"

अमेरिका की एक कवयित्री हैरियट मनरो भी महासभा में उपस्थित थीं और बाद में उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा – "इन महिमामय स्वामी विवेकानन्द ने ही धर्मसभा और पूरे नगर को जीत लिया था। कुछ अन्य विदेशी – ग्रीक, रूसी, अरमेनियन, कलकत्ता के मजूमदार, लंका के धर्मपाल आदि अच्छा बोले – जिनमें से किसी-किसी को दुभाषिये की सहायता लेनी पड़ी थी। परन्तु उन गैरिक-वस्त्रधारी सुन्दर संन्यासी ने हमें शुद्ध अंग्रेजी में सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्रदान की। उनका प्रबल और आकर्षक व्यक्तित्व, कासे के घण्टा-ध्वनि जैसा उनका गम्भीर और मधुर स्वर, उनके संयत भावोच्छ्वास की प्रखरता और पाश्चात्य जगत् के समक्ष पहली बार उच्चरित उनके सन्देश का सौन्दर्य – इन सबने मिलकर हमारे लिए चरम अनुभूति के एक विरल अवसर की सृष्टि की थी। मानवीय वाग्विदग्धता की यह पराकाष्ठा थी।"

महासभा के किंचित् बाद

धर्मसभा के समाप्त होते-होते स्वामीजी वहाँ काफी प्रसिद्ध हो गये और उन्हें शिकागो तथा आसपास के अनेक स्थानों से व्याख्यान के लिए निमंत्रण मिलने लगे और साथ ही उनके भारतीय कार्य के लिये धन भी आने लगा। शिकागो के उत्तर में स्थित इवांस्टन तथा स्ट्रेटर नगरों में कई व्याख्यान दिये थे। इन्हीं दिनों स्वामीजी ने स्लेटन लाइसियम ब्यूरो नामक एक व्याख्यान कम्पनी के साथ एक अनुबन्ध कर लिया और उसी के तत्त्वावधान में अब वे 'तूफान के सदृश' अमेरिका के विभिन्न अंचलों का दौरा करते हुए व्याख्यान देने लगे। इस दौरान उन्होंने अमेरिका के मध्य-पश्चिमांचल तथा दक्षिण के अनेक नगरों में बहुत-से व्याख्यान दिये। मोटे तौर पर इन व्याख्यानों का काल – नवम्बर १८९३ से अप्रैल १८९४ तक था। इलिनायस स्टेट (राजधानी – शिकागो) के बाहर उन्होंने आइवा स्टेट के डिमोइन्स नगर में व्याख्यान दिये। तदुपरान्त जनवरी १८९४ में टेनेसी स्टेट के मेम्फिस में तथा फरवरी में डिट्राइट में उनके भाषण हुए। २२ जनवरी को स्वामीजी पुन: शिकागो में व्याख्यान देने लौट आये।

इन व्याख्यानों में स्वामीजी केवल धर्म या वेदान्त-दर्शन पर ही बोलते हों, ऐसी बात नहीं थी। इन विषयों के साथ ही

उन्होंने आर्य-सभ्यता, भारतीय संस्कृति तथा समाज-व्यवस्था, मूर्तिपूजा, भारत के सामाजिक रीति-रिवाज, भारतीय नारी का आदर्श आदि विषयों पर भी भाषण दिये थे। इस प्रकार वे भारत तथा भारतवासियों के विषय में पूरे अमेरिकावासियों के समक्ष सही चित्र प्रस्तुत करते और उकसाये जाने पर कुछ निहित-स्वार्थ के लोगों द्वारा हिन्दू संस्कृति के विषय में काफी काल से किये जा रहे भ्रामक प्रचार की पोल भी खोलते रहते। उनके सम्पर्क में आकर अमेरिका के ईसाई लोग भी अपने धर्म को यथार्थ रूप से समझने और उसके उपदेशों को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करने लगे।

एक व्याख्यान में वे बोले – "सच्चा ईसाई होने के लिए सभी धर्मों को मानना उचित है। एक धर्म में जिसका अभाव है वह अन्य धर्म में मिल सकता है और अच्छे ईसाई के लिए सब स्वीकार्य है। धर्मान्तरण का भाव मुझे पसन्द नहीं। ... हमारे देश में दो शब्द हैं – धर्म और सम्प्रदाय।... हमारे यहाँ 'धर्म' का अर्थ है सभी धर्म। हमलोग परमत-असहिष्णुता के सिवा बाकी सब सहन कर लेते हैं। सम्प्रदाय से तात्पर्य उन लोगों से है, जो कहते हैं, 'हम लोग ठीक हैं, तुम लोग गलत हो'।" फिर उन्होंने कूपमण्डूक की कहानी सुनायी।

एक अन्य व्याख्यान का विवरण एक अखबार में छपा – "हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने डिमोइन्स में तीन व्याख्यान दिए। बड़े आनन्द की बात यह है कि वे और भी पश्चिम जाने का दिन टालकर यहाँ अधिक दिन रहे, जिसके फलस्वरूप वे नगर के गणमान्य लोगों के साथ मिल सके और इन लोगों ने भी उनसे भेंट तथा धर्म-विषयक चर्चा करके अपने समय का सदुपयोग किया। परन्तु यदि कोई उन संन्यासी के अपने क्षेत्र में घुसकर उनका विरोध करना चाहते और प्रतिस्पर्धा की भावना से उनके साथ बहस करने को अग्रसर होते, तो उन लोगों की सामत ही आ जाती। उनके उत्तर विद्युत् की दमक के समान निकलते और दुस्साहसी प्रश्नकर्ता इन भारतवासी की तीक्ष्ण बुद्धि रूपी भाले से अवश्य ही आहत हो जाता। उनकी मेधा इतनी सूक्ष्म, समृद्ध और परिमार्जित है कि कभी-कभी वह अपने श्रोताओं को चौंधिया देती है तथापि वह सर्वदा बड़े रोचक अध्ययन का विषय है। वे पीड़ादायक कुछ भी नहीं बोलते थे, क्योंकि यह उनके स्वभाव के विपरीत है। उनके साथ घनिष्ठ सम्पर्क में आनेवाले सभी ने पाया कि उनका स्वभाव बड़ा सौम्य और प्रेम के योग्य है; वे अत्यन्त सच्चे, सरल व निष्कपट हैं और अपने प्रति दिखाई गयी सौजन्यता के लिए सर्वदा कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। विवेकानन्द और उनके कार्य ने सभी सच्चे ईसाइयों के हृदय में स्थान बना लिया है।"[१]

१. युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, नागपुर, खण्ड २, प्रथम संस्करण, पृ. ५८-५९

ईसाई मिशनरी भारत के धर्म तथा सामाजिक अवस्था के बारे में अनेक मनगढ़न्त बातों से युक्त साहित्य प्रकाशित करके पूरे अमेरिका में प्रचार करते और लोगों के मन में झूठी सहानुभूति उत्पन्न करके धन एकत्र करते। इस भ्रामक प्रचार के कारण स्वामीजी को कदम-कदम पर ऊल-जलूल प्रश्नों का सामना करना पड़ता। एक बार वे मिशनरियों की कठोर भर्त्सना करते हुए बोल उठे – "तुम किसलिये इन लोगों को शिक्षण, प्रशिक्षण, वस्त्र और धन देते हो? इसीलिये न कि वे मेरे देश में जाकर मेरे सभी पूर्वजों को, मेरे धर्म को और सभी बातों को कोसें और गालियाँ दें। वे एक मन्दिर के पास जाते हैं और कहते हैं, 'मूर्तिपूजको, तुम नरक में जाओगे।' परन्तु हिन्दू बड़ा नम्र होता है। वह मुस्कुराकर यह कहते हुए चल देता है कि मूर्ख को बकने दो। उनका यही दृष्टिकोण है। तुम जो अपने लोगों को हमारी निन्दा करने और हमें गालियाँ देने के लिये प्रशिक्षित करते हो, यदि मैं सद्भावपूर्वक भी तुम्हारे विषय में कुछ टिप्पणी कर देता हूँ, तो तुम सिहरकर चिल्ला उठते हो, 'हमें न छुओ, हम अमेरिकन हैं। हम सारे संसार की आलोचना करते हैं, उन्हें कोसते हैं, उन्हें गालियाँ देते हैं, उनसे कुछ भी कहते हैं; पर हमें न छुओ, हम छुईमुई हैं।' जब कभी तुम्हारे मिशनरी हमारी निन्दा करें, तो वे याद रखें कि यदि सम्पूर्ण भारत उठ खड़ा हो और हिन्द महासागर के तल का सारा कीचड़ उठाकर पाश्चात्य देशों की ओर फेंके, तो भी यह उससे अनन्तगुना कम होगा, जो तुम हमारे साथ कर रहे हो।"[२]

विरोध और प्रतिकार

स्वार्थ तथा अन्धकार के दूतों को उनके द्वारा सत्य का यह प्रचार सहन नहीं हुआ। ब्राह्मसमाज के एक नेता श्री प्रतापचन्द्र मजुमदार तथा अनेक ईसाई मिशनरी उनके प्रति विद्वेष से परिपूर्ण हो उठे। मजूमदार ने स्वामीजी के बारे में कई तरह की झूठी बातें गढ़ीं और ईसाई मिशनरियों के साथ मिलकर उनका पूरे अमेरिका में जोर-शोर से प्रचार करने लगे। उनकी पत्रिका 'युनिटी एण्ड द मिनिस्टर' में लिखा गया, "नवहिन्दू बाबू नरेन्द्रनाथ दत्त उर्फ विवेकानन्द की प्रशंसा में 'इण्डियन मिरर' में अनेक लम्बे सम्पादकीय लेख निकल चुके हैं। ... हमारे इन पुराने मित्र ने सम्प्रति अपने व्याख्यानों के द्वारा अमेरिका में जो भावतरंग उत्थित किया है, उससे हम आनन्दित हैं, परन्तु हम यह भी जानते हैं कि हमारे मित्र जिस नवीन हिन्दू मत का प्रचार कर रहे हैं, वह सनातन हिन्दू धर्म नहीं है। उन्होंने जो पूर्ण रूप से अनुचित किया है वह है – समुद्र पार जाना, म्लेच्छों का अन्न ग्रहण करना, लगातार सिगरेट पीना अथवा इसी तरह का और कुछ

२. विवेकानन्द : एक जीवनी, स्वामी निखिलानन्द, अद्वैत आश्रम, प्रथम संस्करण, पृ. १३४

करना। शुद्ध सनातनी हिन्दू जितने हमारी श्रद्धा के पात्र हो सकते हैं, आधुनिक हिन्दू मत के अनुयायी वैसी श्रद्धा पाने का दावा नहीं करते। परन्तु विवेकानन्द की प्रसिद्धि बढ़ाने के लिए हमारे सहयोगी (इंडियन मिरर नामक समाचार-पत्र) के यथासाध्य प्रयास करने के बावजूद, जब वे बिल्कुल बेकार की बातें बकते हैं, तो हमारा धैर्य छूट जाता है।''

स्वामीजी के बारे में और भी कुछ दुष्प्रचार की सामग्री के साथ यह सम्पादकीय 'बोस्टन डेली ऐडवेंचर' के १६ मई १८९४ के अंक में प्रकाशित हुआ। परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि इस प्रकार के निन्दावाद के फलस्वरूप किसी किसी क्षेत्र में थोड़ी सी भ्रामकता उत्पन्न होने पर भी, इससे स्वामीजी के कार्य में कोई विशेष बाधा नहीं आ सकी थी।

ब्राह्मसमाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजूमदार और ईसाई मिशनरी उनके प्रमुख शत्रु बन गए। बाद में बोस्टन की रमाबाई मण्डली भी इन लोगों के साथ जुड़ गयी। ... स्वामीजी की पत्रावली पढ़कर ऐसा लगता है कि मजूमदार महाशय ने स्वामीजी की सफलता पर ईर्ष्यालु होकर उनके प्रति विरुद्धाचरण किया। स्वामीजी की पुरानी अंग्रेजी जीवनी में लिखा है कि ईर्ष्यापरायण लोगों में – ''एक थे उन्हीं के स्वदेशवासी और वे एक प्रगतिशील धार्मिक सम्प्रदाय के नेता थे। उन्होंने देखा कि एक नवीन प्रतिद्वन्द्वी उनका नाम-यश ग्रहण करता जा रहा है। हिन्दू संन्यासी का परिचय पूछे जाने पर उन्होंने महासभा के संचालकों के कान में कहा, 'यह भारत के एक ऐसे घुमक्कड़ सम्प्रदाय का है, जिनका समाज में कोई मान या प्रभाव नहीं है; वस्तुत: यह एक ढोंगी है।' परन्तु संचालकों का उदार मन इन बातों से विचलित नहीं हुआ। स्वामीजी के प्रबल व्यक्तित्व के आधार पर ही उन लोगों ने उनका मूल्यांकन किया।''

थियॉसाफिस्ट भी उन पर रुष्ट थे; क्योंकि थियॉसाफी द्वारा 'महात्मावाद' आदि उन्हें बड़ा रहस्यमय तथा पूरे धर्म-जगत् के लिये घातक प्रतीत होता था। उनकी दृष्टि में थियॉसाफिस्टों के अलौकिक कारनामे जादू-टोने तथा बाजीगरी के ही श्रेणी के थे और उनका आध्यात्मिक महत्त्व शून्य के तुल्य ही था।

ये सभी विकृत या विरोधी सम्प्रदाय अमेरिकी जनता के समक्ष हिन्दू धर्म, संस्कृति तथा समाज का खूब बढ़ा-चढ़ा कर कुत्सित रूप में प्रस्तुत करते और भारत के हिन्दुओं का उद्धार करने हेतु चन्दा इकट्ठा किया करते थे। स्वामी विवेकानन्द के वहाँ पहुँचने तथा उनके व्याख्यान-दौरों के फलस्वरूप इन विकृत अभियानों की सच्चाई उजागर हो जाने के कारण इन सभी ने आपस में मिलकर स्वामीजी के विरुद्ध मानो युद्ध की ही घोषणा कर दी। श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार के कारनामों का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने १९ मार्च १९८४ ई. को अपने एक गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द के नाम एक पत्र में लिखा था –

''प्रभु की इच्छा से मजूमदार महाशय के साथ मेरी यहाँ भेंट हुई। पहले तो बड़ी प्रीति थी, परन्तु जब पूरे शिकागो शहर के नर-नारी मेरे पास झुण्ड के झुण्ड आने लगे, तब मजूमदार भैया के मन में आग धधक उठी। मैं तो देख-सुनकर दंग रह गया। बोलो भाई, मैंने क्या तुम्हारे पेट पर लात मारी है? इस देश में तो तुम्हारे लिए यथेष्ट अवसर है। परन्तु मेरे जैसा तुम्हारा नहीं हुआ तो इसमें मेरा क्या दोष है? ... और मजूमदार ने महासभा के पादरियों के समक्ष मेरी खूब निन्दा की, 'यह कोई नहीं, ठग है, ढोंगी है; तुम्हारे देश में कहता है – मैं साधु हूँ।' आदि बातें कहकर उन लोगों के मन में मेरे बारे में गलत धारणा बैठा दी। प्रेसीडेण्ट बैरोज को ऐसा भड़काया कि अब वे मेरे साथ ठीक से बातें तक नहीं करते। ये लोग पुस्तकों और पत्रकों की सहायता से मुझे यथासम्भव दबाने का प्रयास कर रहे हैं; परन्तु भाई, गुरुदेव मेरे साथ हैं। मजूमदार के कहने से क्या हो सकता है? पूरा अमेरिका मुझे प्रेम करता है, भक्ति करता है, रुपये देता है और गुरु जैसा मानता है – मजूमदार बेचारा क्या करे? पादरी-फादरी की भी क्या बिसात? और फिर यह विद्वानों का राष्ट्र है। यहाँ पर 'हम विधवाओं का विवाह करते हैं, मूर्तिपूजा नहीं करते' आदि बातें नहीं चलती, केवल पादरियों के पास चलती है। भाई, ये लोग दर्शन चाहते हैं, विद्या चाहते हैं; थोथी गप्पों से काम नहीं चलेगा। ... भाई, सब जाती है, पर यह मुई ईर्ष्या नहीं जाती।''

इस प्रकार हमने देखा कि ब्राह्मसमाज के एक प्रमुख नेता श्री प्रतापचन्द्र मजुमदार ने ईसाई मिशनरियों के साथ मिलकर स्वामीजी के विषय में बहुत-सी झूठी बातों का प्रचार किया था, पर स्वामीजी ने उसकी परवाह न करते हुए अपना कार्य जारी रखा। तथापि अपने घनिष्ठ मित्र प्राध्यापक जॉन हेनरी राइट के मन से इस विषय में शंका दूर करने हेतु उन्होंने भारत के अपने कुछ मित्रों को अपना परिचय सत्यापित करने को कहा और उन्हें लिखने वालों में प्रमुख थे खेतड़ी-नरेश महाराजा अजीतसिंह। यद्यपि स्वामीजी का मूल पत्र खो चुका है, परन्तु राजा अजीत सिंह ने जो उत्तर भेजा था, वह प्राध्यापक राइट के कागजातों में प्राप्त हुआ है। आगे हम उसे प्रस्तुत करेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖
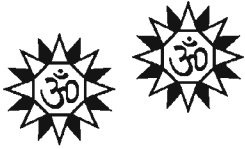
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (१)
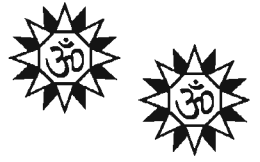
इडा आन्सेल (भगिनी उज्ज्वला)

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१९०० ई. के प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द ने जीवन तथा धर्म-विषयक एक बिल्कुल ही नवीन धारणा से हमारा परिचय कराया। तब यह घटना हमें जैसी लगी, उसका वर्णन सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम, सर्वोच्च आदि किसी भी विशेषण द्वारा नहीं किया जा सकता। मैं उनके व्याख्यानों को अपने निजी उपयोग के लिये लिखा करती थी – अर्थात् उन्हें प्रकाशित करने का विचार मेरे मन में कभी नहीं आया था। इसी आधार पर मुझसे उनकी स्मृतियों को लिपिबद्ध करने का अनुरोध किया गया है। मैं इसे कैसे आरम्भ करूँ? स्वामीजी किसी उच्चतर लोक के एक दिव्य व्यक्ति प्रतीत होते थे, तथापि वे मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू की बड़ी सटीक समझ रखते थे। वे अपनी वाक्पटुता, हास-परिहास, अनुकरण-क्षमता, किसी भी संकीर्णता या असहिष्णुता का निर्मम तिरस्कार और मनुष्य की हर आवश्यकता के प्रति अपनी सहानुभूति के द्वारा वे प्रत्येक स्तर के बुद्धिवाले व्यक्ति को प्रिय लगते थे।

उनका पहला व्याख्यान सुनकर अपने क्षुद्र आदर्शों की तुलना में उनके विचारों की महानता पर विस्मित चित्त के साथ जब हम सभा-गृह से बाहर आ रहे थे, तब भी स्वामीजी द्वारा उद्धृत एक संस्कृत श्लोक हमारे कानों में गूँज रहा था और हम समझ गये थे कि २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमें जीवन के तात्पर्य के विषय में एक नवीन तथा बृहत्तर धारणा से परिचित कराया गया था।

अब अपने सुदीर्घ जीवन का सिंहावलोकन करते हुए पीछे की ओर मुड़कर देखना – अपने आदर्शों में आये परिवर्तन और जिन छोटी तथा महत्त्वहीन घटनाओं ने मेरी पूरी जीवन-धारा ही बदल दी, उन पर विचार करना बड़ा ही रोचक लगता है। यदि मैंने हाई स्कूल में प्रवेश के पूर्व स्टेनोग्रैफी (द्रुत-लेखन) का पाठ्यक्रम नहीं लिया होता और यदि हाईस्कूल के दूसरे वर्ष में स्नायविक दुर्बलता से रुग्ण होकर मुझे स्कूल न छोड़ना पड़ता, तो भले ही मैं स्वामीजी के कुछ व्याख्यान सुन पाती, पर व्यक्तिगत रूप से शायद मैं उनसे कभी मिल नहीं पाती। मेरा पियानो सीखना तथा स्कूल जाना – दोनों एक साथ हो रहे थे। डॉक्टर का निर्णय था – "तुम स्कूल और संगीत – दोनों में से कोई एक छोड़ दो, अन्यथा तुम्हें दोनों की ही जरूरत न रहेगी।" मेरी सहायता करने हेतु उन्होंने मिस लीडिया बेल को भेजा था। कुमारी बेल सैनफ्रांसिस्को के कैलीफोर्निया स्ट्रीट पर स्थित 'होम ऑफ ट्रुथ' की प्रमुख थीं। मैं 'होम' में रहकर उनकी सुबह की कक्षाओं तथा रविवार के व्याख्यानों के नोट लिया करती थी।

प्रात:कालीन कक्षाओं में हम लोग स्वामी विवेकानन्द के 'राजयोग'[१] का अध्ययन कर रहे थे। उस समय स्वामीजी लॉस-एंजेलस में थे और उन्होंने ओकलैंड के प्रथम यूनीटेरियन चर्च में कुछ व्याख्यान देने का रेवरेंड बी. फे मिल्स का आमंत्रण स्वीकार कर लिया था। १९०० ई. की फरवरी के प्रारम्भ में कुमारी बेल तथा कुछ अन्य मित्रों के साथ मैं वहाँ गयी और जो कुछ सुना उस पर स्तब्ध तथा विस्मित रह गयी और स्वामीजी का व्यक्तित्व देखकर चकित तथा मंत्रमुग्ध हो गयी। निश्चित रूप से वे एक मनुष्य से कहीं अधिक एक महात्मा या देव-मानव थे। मैंने कभी ऐसे किसी उदात्त वक्ता, इतना मधुर हास-परिहास करनेवाले, ऐसे आकर्षक ढंग से कथा चलानेवाले या ऐसा हूबहू नकल करनेवाले व्यक्ति को नहीं देखा था। जब मैंने उन्हें देखा तथा उनकी वाणी सुनी; और उन्हें जन्म देनेवाली सभ्यता के विषय में हमें जो कुछ बताया गया था, उसके बारे में सोचा, तो मुझे अपने अमेरिकी होने पर लज्जा का बोध होने लगा।

मैं मिस बेल के साथ उनके अनेक व्याख्यान तथा अन्य मित्रों के साथ उनके कुछ व्याख्यान सुनने गयी। हर बार मुझे समान रूप से जीवन्त उत्साह देखने को मिला। वैसे कुछ लोगों को उनके सिद्धान्तों की अपेक्षा उनके व्यक्तित्व ने अधिक प्रभावित किया। मुझे याद आता है कि मेरे ही शिक्षक से संगीत का अध्ययन करनेवाली एक अत्यन्त धनाढ्य तथा अभिजात परिवार की युवती ने आनन्द-विभोर

१. उनकी पिछली अमेरिका यात्रा के समय न्यूयार्क से प्रकाशित।

होकर कहा था, "ओह, वे तो एक अत्यन्त मनोहर सोने की मूर्ति के समान हैं।"

इन सार्वजनिक व्याख्यानों के अलावा कुछ आग्रही छात्रों के लिये स्वामीजी सुबह के समय भी ध्यान आदि की कक्षा चलाते थे। ये कक्षाएँ टर्क स्ट्रीट के फ्लैट के रिहायसी कमरे में हुआ करती थीं। श्रीमती एलिस हैंसबरो (शान्ति) तथा श्रीमती एमिली एस्पिनाल (कल्याणी) वहाँ का गृह-कार्य चलातीं और हर तरह से स्वामीजी की सहायता करती थीं। मैं उनमें से केवल कुछ कक्षाओं में ही उपस्थित हो सकी थी और उनके कोई नोट्स नहीं ले सकी। कक्षा के शुरू में थोड़ी देर ध्यान के बाद उपदेश तथा तदुपरान्त प्रश्नोत्तर होते और अन्त में व्यायाम, विश्राम एवं आहार आदि के विषय में निर्देश दिए जाते। स्वामीजी सुपाच्य आहार को सीमित मात्रा में ग्रहण करने पर बल देते। उनकी एक सलाह मुझे याद है, नमक के उत्तेजक होने के कारण उन्होंने एक सप्ताह के लिये नमक छोड़ने को कहा और बताया कि इससे स्नायविक तंत्र को लाभ होता है।

इन कक्षाओं में वे अनेक प्रश्नों के उत्तर देते थे। फिर जो लोग कक्षा के थोड़ा पहले आ जाते, उन्हें स्वामीजी से व्यक्तिगत रूप से भी मिलने का अवसर मिल जाता। हमें भोजनालय में भी आमंत्रण मिलता और वहाँ बैठकर हम उनकी अनौपचारिक बातों का आनन्द लेते। वे हमारी हड़बड़ी में इधर-उधर दौड़ने के भाव की हँसी उड़ाते। **वे स्वयं किसी काम में जल्दबाजी नहीं करते।** उनके चेहरे पर सर्वदा एक भव्य प्रशान्ति का भाव बना रहता। किसी को गाड़ी पकड़ने के लिए दौड़ते देखकर उन्हें हँसी आ जाती और वे पूछते, "क्या दूसरी गाड़ी नहीं आयेगी?" कक्षा या व्याख्यान थोड़ी देरी से भी आरम्भ हो, तो वे परेशान नहीं होते और उसकी समाप्ति का समय भी निर्धारित नहीं था। पूर्व-निर्धारित से दुगना समय हो जाने पर भी, विषय जब तक पूरा नहीं हो जाता, तब तक वे बोलते रहते। सुबह की कक्षा के पूर्व की ये बातें पूर्णत: अनौपचारिक होतीं। उस समय स्वामीजी एक भूरे रंगवाले फलालैन का लबादा पहने पालथी मारकर एक कुर्सी पर बैठे हुए धूम्रपान करते और प्रश्नों के उत्तर देते तथा हास-परिहास करते। फिर कक्षा का समय हो जाने पर वे तत्काल ही केश व्यवस्थित किये और गेरुए रंग का लबादा पहने हुए रहने के कमरे में जा पहुँचते। कक्षा में गम्भीर विषयों के बीच भी व्यंग्य-विनोद जारी रहता।

सार्वजनिक व्याख्यानों में भी ऐसा ही होता। "ईश्वर से अभिन्नता की अनुभूति कर लेने के बाद व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व का क्या होता है?" – ऐसे किसी प्रश्न की वे खिल्ली उड़ाते हुए कहते – "तुम इस देश के लोग अपनी इन-डि-वि-डु-अ-लि-टी (व्यक्तित्व) खोने से इतना डरते हो! क्यों? अभी तो तुम्हारा कोई व्यक्तित्व ही नहीं है; जब तुम अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को जान लोगे, तभी अपने सच्चे व्यक्तित्व को प्राप्त कर सकोगे, उसके पहले नहीं। ईश्वर को जान लेने से तुम कोई चीज खोते नहीं हो। एक अन्य बात भी मैं इस देश में निरन्तर सुन रहा हूँ कि हमें प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्वक रहना चाहिए। क्या तुम जानते नहीं कि इस **विश्व में जितनी भी प्रगति हुई है, वह सब प्रकृति पर विजय पाकर ही हुई है? यदि हमें प्रगति करनी है, तो हमें हर कदम पर प्रकृति से संघर्ष करना होगा।**"

प्रत्येक व्याख्यान के अन्त में वे प्रश्न पूछने को उत्साहित करते। एक बार जब किसी ने उनसे कहा कि श्रोतागण व्यर्थ ही उन्हें इतने सारे प्रश्न पूछकर तंग करते रहते हैं, तो इस पर वे बोले – "जितने भी चाहो, पूछ लो – प्रश्न जितने ही अधिक होंगे, उतना ही अच्छा। मैं इसी के लिए तो यहाँ उपस्थित हूँ और जब तक आप समझ नहीं जाते, मैं छोड़ने वाला नहीं हूँ। भारत में लोग मुझसे कहते हैं कि मुझे आम जनता को अद्वैत वेदान्त की शिक्षा नहीं देनी चाहिये, परन्तु मेरा कहना है कि मैं इसे बच्चे तक को समझा सकता हूँ। **सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्यों को जितनी कम आयु में सिखाया जाय, उतना ही अच्छा होगा।**"

मन के आध्यात्मिक प्रशिक्षण के विषय में उन्होंने कहा – "जितना कम पढ़ो, उतना ही अच्छा होगा। गीता तथा वेदान्त के कुछ अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थ पढ़ो। तुम्हारे लिए इतना ही काफी है। आज की पूरी शिक्षा-प्रणाली ही गलत है। मन को सोचना सिखाने के पहले ही उसे विभिन्न तथ्यों से ठूँस-ठूँसकर भर दिया जाता है। सबसे पहले मन:संयम सिखाने की जरूरत है। यदि मुझे फिर नये सिरे से पढ़ाई करनी हो और मेरी बात सुनी जाय, तो सर्वप्रथम मैं अपने मन को वश में लाने का प्रयास करूँगा और तदुपरान्त यदि इच्छा हुई तो तथ्यों का संग्रह करूँगा। लोग अपने मन को इच्छानुसार एकाग्र नहीं कर पाते, इसीलिये उन्हें कुछ भी सीखने में काफी समय लग जाता है। मैकाले लिखित इंग्लैंड का इतिहास याद करने के लिए मुझे उसे तीन बार पढ़ना पड़ा था, जबकि मेरी माँ कोई भी धर्मग्रन्थ एक बार पढ़कर ही कण्ठस्थ कर लेती थीं। लोग अपने मन को वश में नहीं ला पाते, इसीलिये सर्वदा कष्ट उठाया करते हैं। एक स्थूल उदाहरण लें – एक व्यक्ति की उसकी पत्नी के साथ नहीं बनती; पत्नी उसे छोड़कर दूसरे आदमी के साथ रहने चली जाती है। वह औरत विभीषिका की प्रतिमूर्ति है! तो भी, उस बेचारे व्यक्ति की ऐसी हालत है कि वह उस औरत से अपने मन को नहीं हटा सकता और इस कारण वह कष्ट भोगता है।"

एक रविवार की संध्या को 'होम ऑफ ट्रुथ' में उनके व्याख्यान की बात थी। उन्होंने कुछ मित्रों से कहा, ''आज रात मेरे व्याख्यान में आना। मैं कुछ बम छोड़ने जा रहा हूँ। वह बड़ा रोचक और तुम लोगों के लिये लाभकारी भी होगा।'' भाषण सचमुच ही रोचक तथा अकाट्य युक्तियों पर आधारित था। उन्होंने सहज तथा सबल भाषा में बता दिया कि उनकी हमारे बारे में क्या धारणा है। यदि स्वीकार करने की क्षमता हो, तो उनका वह मत सुनने में बड़ा मधुर न था और मेरा विश्वास है कि हममें वह क्षमता थी। मुझे याद है कि कोई भी कक्ष छोड़कर गया नहीं।

उन्होंने खूब बल देकर कहा कि मानसिक शक्ति अर्जित करने के लिए संन्यासी तथा गृही – सबके लिए ब्रह्मचर्य का अभ्यास आवश्यक है। उन्होंने एक हिन्दू युवक का उल्लेख किया, जो कुछ काल से अमेरिका में रह रहा था और अस्वस्थता से कष्ट भोग रहा था। उस युवक ने स्वामीजी को बताया था कि ब्रह्मचर्य का भारतीय सिद्धान्त पूरी तौर से गलत है, क्योंकि इस देश के चिकित्सकों ने उसे इसके विपरीत राय दी है। स्वामीजी बोले, ''मैंने उसे सलाह दी कि वह भारत लौट जाय और अपने उन पूर्वजों के उपदेश सुने, जिन्होंने हजारों वर्षों तक ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया है।'' इसके बाद उन्होंने ऐसी सलाह देने के लिये अमेरिकी चिकित्सकों को खूब खरी-खोटी सुनाई।

इस व्याख्यान के पूर्व श्रीमती स्टील ने एक सुन्दर निशा-भोज का आयोजन कर रखा था। भोज के समय स्वामीजी अत्यन्त प्रफुल्ल तथा सहज भाव से वार्तालाप करते दीख पड़े थे। हम लोग आशा कर रहे थे कि भोजन के पूर्व वे यथारीति भगवान से प्रार्थना आदि करेंगे; परन्तु हम यह देखकर विस्मित रह गये कि उन्होंने सीधे ही खाना आरम्भ कर दिया। उन्होंने कहा कि आहार के पूर्व नहीं, बल्कि बाद में धन्यवाद देना उचित है और वे श्रीमती स्टील से बोले, ''मैडम, मैं तो आपको ही धन्यवाद दूँगा, क्योंकि आप ही ने तो सारा कार्य किया है।'' श्रीमती स्टील ने कुछ बहुत उत्तम किस्म के खजूरों की भी व्यवस्था की थी, जिनका स्वामीजी ने रसास्वादन किया। सभा समाप्त होने के बाद जब उक्त महिला ने व्याख्यान की प्रशंसा की, तो स्वामीजी बोले, ''मैडम, यह आपके खजूरों की बदौलत ही हुआ।''

एक संध्या के व्याख्यान में स्वामीजी ने हिन्दू धर्मग्रन्थों में वर्णित स्वर्ग तथा नरक की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने कई प्रकार के नरकों का वर्णन किया। व्याख्यानों के बाद भक्तगण या तो उन्हें सैनफ्रांसिस्को के 'लघु इटली' अंचल में स्थित श्रीयुत लुइस जूल के रेस्तराँ अथवा नगर के बाहरी इलाके में स्थित किसी कैफे में ले जाते। उन्हें कहाँ ले जाया जाएगा यह जलवायु तथा इस बात पर निर्भर करता कि स्वामीजी कुछ गरम खाना चाहते हैं या आइसक्रीम। यह रात ठण्ड काफी थी और स्वामीजी अपने ओवरकोट में काँपते हुए कह रहे थे, ''यह यदि नरक न हो, तो नरक फिर किसे कहेंगे, मैं नहीं जानता।'' परन्तु इस नारकीय ठण्ड के बावजूद उन्होंने आइसक्रीम खाने की इच्छा व्यक्त की; आइसक्रीम उन्हें बड़ी प्रिय थी। अत: उस रात उन्हें कैफे में ले जाया गया। जब हमारा कैफे से विदा लेने का समय हुआ, तभी मेजबान का फोन आ गया। वे अतिथियों से प्रतीक्षा करने को कहकर बाहर जाने लगीं, उसी समय स्वामीजी ने उन्हें पुकार कर कहा, ''देखो, देरी मत करना, नहीं तो लौटने पर आपको यहाँ चाकलेट आइसक्रीम का एक ढेर मात्र ही पड़ा मिलेगा।'' – अर्थात् वे लोग ठण्ड से जमकर आइस्क्रीम हो जाएँगे।

एक अन्य समय कैफे की परिचारिका स्वामीजी के लिये आइसक्रीम की जगह भूल से आइसक्रीम-सोडा ले आयी। स्वामीजी को सोडा पसन्द न था, इसलिए उन्होंने पूछा कि क्या इसे बदला जा सकता है। परिचारिका के बदलने के लिये जाने पर स्वामीजी ने देखा कि मैनेजर नाराज होकर उसकी ओर देख रहा है। कौन सुन रहा है और कौन नहीं, इसकी परवाह न करते हुए स्वामीजी उच्च स्वर में बोल उठे, ''यदि आपने इस लड़की को डाँटा, तो मैं आपके यहाँ का सारा आइसक्रीम सोडा खा डालूँगा।''

ईसाई चर्चों में होनेवाले समूह-गान का वे 'bottle-breaking business' (बोतल तोड़ने का अनुष्ठान) कहकर उल्लेख किया करते थे। 'Beulah Land' (ब्यूला लैंड) की वे हर तरह से मजाक उड़ाया करते थे –

पहुँच गया हूँ मैं अन्न तथा सुरा से समृद्ध देश में
यहाँ की सारी धन-दौलत पूर्णत: मेरी अपनी है।

'मिशनरी-स्तोत्र' नामक एक अन्य स्तोत्र भी उन्हें बड़ा मजेदार लगता था –

ग्रीनलैंड के बर्फीले पर्वतों से लेकर
भारत के प्रवाल से आच्छन्न तटों तक।

वे अपनी भरी आवाज में इन स्तोत्रों को पूरा गाते और उसके बाद ठहरकर नाटकीय ढंग से अपनी ओर इंगित करके मुस्कुराते हुए कहते – ''मैं ही वह अधर्मी हूँ, जिसका उद्धार करने वे आये थे।''

स्वामी तुरीयानन्द उस समय न्यूयार्क में रहकर स्वामी अभेदानन्द की सहायता कर रहे थे। ३० मार्च के दिन स्वामीजी ने उन्हें लिखा – ''अगले सप्ताह मैं शिकागो जा रहा हूँ।'' परन्तु इसके बाद उनके और भी व्याख्यान हुए और २३ अप्रैल के दिन उन्होंने मेरी हेल को लिखा – ''मुझे आज चल पड़ना था, परन्तु यहाँ से विदा लेने के पूर्व मैं कैलिफोर्निया के विशाल रेड-वुड वृक्षों के नीचे

आयोजित होनेवाले एक शिविर में सम्मिलित होने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। अत: तीन-चार दिनों के लिये मैं वहाँ आने का कार्यक्रम स्थगित करता हूँ।'' पर उनके लिये 'तीन-चार सप्ताह' लिखना ही उचित होता, क्योंकि २६ मई के पूर्व वे खाड़ी अंचल से विदा न हो सके थे।

इस कैम्प के स्वामी श्री जूल (Mr. Julh) ने वह स्थान मिस बेल को गर्मियों की छुट्टियाँ बिताने के लिये दिया था। और स्वामीजी को मिस बेल से इस कैम्प में रहने का निमंत्रण मिला था। मिस बेल ने श्रीमती एलाइस रूरबैक तथा मुझे अपने साथ जाने का निमंत्रण दिया था। स्वामीजी के विभिन्न पत्रों से पता चलता है कि १९ अप्रैल तक वे टर्क स्ट्रीट के फ्लैट में ही रहे। उसके बाद कुछ दिन वे खाड़ी के दूसरी ओर अलामेड़ा में और वस्तुत: २ मई के पूर्व रेडवुड कैम्प में नहीं पहुँच सके थे।

श्रीयुत जूल का यह कैम्प अर्विंग, सैनफ्रांसिस्को के कई मील उत्तर में स्थित मान काउंटी के 'कैम्प टेलर' नामक ग्राम्य अंचल के बाहरी इलाके में स्थित था। मिस बेल, श्रीमती रूरबैक तथा मैं, २२ अप्रैल को कैम्प अर्विंग में पहुँचकर उसमें रहने लगे। कैम्प जिस लम्बे भूखण्ड पर स्थित था, उसके एक ओर रेल्वे लाइन तथा दूसरी ओर एक सँकरी नदी थी। कैम्प के एक छोर पर कुछ वृक्ष चक्राकार उगे हुए थे। उस स्थान को एक प्रार्थनागृह के समान हम लोग ध्यान तथा साधना आदि के लिये उपयोग में लाते थे। रसोई के सामान के रूप में थे – एक वृक्ष के नीचे बना हुआ एक चूल्हा, आवश्यक वस्तुओं से भरा हुआ एक सन्दूक, खुरदरे तख्ते से बना एक मेज तथा उसके दोनों ओर दो बेंच, प्लेटें रखने के लिये वृक्ष के तने से लगी काठ के पटरों की आलमारी और बरतनों को लटकाने के लिये पेड़ के तने में कुछ कीलें ठोक दी गयी थीं। दोनों छोरों पर आध्यात्मिक तथा जागतिक भोजन की व्यवस्था के बीच में चार तम्बुओं तथा कैम्प-फायर (अलाव) के लिये खुली जगह थी।

काफी प्रयास के बाद आखिरकार स्वामीजी शान्ति के साथ लिये कैम्प में पहुँचे। कुछ वर्षों पूर्व जब मैं सैन-फ्रांसिस्को में थी, तो शान्ति से मुझे यह सब सुनने को मिला था। उसने मुझे कैम्प में जाने के पूर्व की अपनी उस मानसिक द्वन्द्व की स्थिति के बारे में बताया था। एक तरफ तो उसकी स्वामीजी के साथ जाने की इच्छा थी और दूसरी ओर थी तीन माह के विछोह के बाद लास-एंजेलेस में स्थित अपनी पुत्री के पास लौटने की आकांक्षा। स्वामीजी ने उससे कहा, ''लास-एंजेलेस मत जाओ। मेरे साथ कैम्प चलो, वहाँ मैं तुम्हें ध्यान करना सिखाऊँगा।'' अलामेड़ा से कैम्प अर्विंग जाने के लिये दो जगह जलयात्रा करनी पड़ती थी – पहले तो अलामेड़ा से सैन-फ्रांसिस्को जाते समय खाड़ी को पार करते समय और फिर वहाँ से उत्तर की ओर मान काउंटी जाते समय। यात्रियों को अलामेड़ा से घाट तक ले जाने के लिए दो रेल-लाइनें थीं – एक बड़ी लाइन तथा दूसरी सँकरी लाइन। दोनों लाइनों के बीच थोड़ी-सी दूरी थी। एक लाइन की ट्रेन छूट जाने पर स्वामीजी तथा शान्ति ने दूसरे लाइन की ट्रेन पकड़ी। गाड़ी में बैठकर वे सोच रहे थे कि सुबह का नाश्ता अलामेड़ा से सैन-फ्रांसिस्को जाने वाले जलयान पर होगा या सैन-फ्रांसिस्को से मान काउंटी ले जानेवाले जलयान पर। तभी उन्हें पता चला कि उनकी गाड़ी में इंजन ही नहीं लगा है। अत: वे 'होम' को लौट गए और वहीं जलपान किया। स्वामीजी बोले, ''हम लोग ट्रेन इसलिये नहीं पकड़ सके, क्योंकि तुम्हारा मन लास-एंजेलेस की ओर खिंच रहा था; और दुनिया में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो मनुष्य से उसकी हार्दिक इच्छा के विरुद्ध कुछ करा सके।''

शान्ति ने मुझे बताया था कि दो वर्षों तक स्वामीजी की पुस्तकें पढ़ने के बाद उसे १८९९-१९०० ई. की सर्दियों में लास-एंजेलेस में पहली बार उनका व्याख्यान सुनने को मिला। वह तत्काल उनके कार्य में सहायता करने को उत्सुक हो गयी। एक समिति गठित हुई और शान्ति उसकी पहली सचिव बनी। ब्लैंचर्ड हॉल, लास-एंजेलस होम ऑफ ट्रुथ, पसाडेना के शेक्सपियर क्लब तथा अन्य स्थानों में व्याख्यान हुआ करते थे। उन दिनों स्वामीजी श्रीमती एस. के. ब्लाजेट के घर में रहते थे। वे दक्षिणी पसाडेना में मीड बहनों के भी अतिथि हुए। शान्ति उन बहनों में से एक थी और अन्य दो थीं श्रीमती कैरी मीड वाइकॉफ, जिसने परवर्ती काल में हालीवुड का अपना मकान 'दक्षिणी कैलीफोर्निया वेदान्त समिति' के मुख्यालय हेतु दान कर दिया था; और तीसरी थी हेलेन मीड, जिसने स्वामीजी के लास-एंजेलेस में हुए कुछ व्याख्यानों का द्रुत-लेखन किया था। ओकलैंड के लिये विदा लेते हुए स्वामीजी ने कहा था, ''तुम तीनों बहनों ने सदा के लिये मेरे मन के एक अंश पर अधिकार कर लिया है।''

शान्ति ने बताया था – ''स्वामीजी का स्वभाव इतना सरल था कि वे सबके साथ समानता के स्तर पर मेलजोल करते थे। उन्होंने मुझसे कहा था, 'तुममें श्रद्धा नहीं है।' जब मैंने यह बात स्वामी तुरीयानन्द को बतायी, तो वे बोले, 'हाँ, उन्होंने वैसा कहा जरूर होगा, पर तुममें श्रद्धा नहीं है यह देखकर वे प्रसन्न ही हुए थे। समता रहने पर ही सच्चे प्रेम का आदान-प्रदान होता है। जहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं रहता, वहीं पूर्ण मिलन हो सकता है।' ''

माँ की स्मृतियाँ

स्वामी अम्बानन्द*

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९ सितम्बर, १९१४ ई. शनिवार, अमावस्या का दिन था। उसी दिन मुझे माँ के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मिला था। इसके एक दिन पूर्व, बेलूड़ मठ के जिस कमरे में मैं और मेरे भाई दामोदरन ठहरे थे, स्वामी निर्मलानन्दजी शाम को उस कमरे में आकर बोले – "माँ का दर्शन तथा उन्हें प्रणाम करने को कल का दिन तुम लोगों के लिये शुभ रहेगा। खूब सबेरे स्नान कर लेना, मगर कुछ खाना मत। कुछ फूल लेकर ब्रह्मचारी गोविन्द के साथ माँ के पास जाना। वहाँ दोपहर का प्रसाद लेकर विश्राम के बाद दक्षिणेश्वर जाना और देवी-दर्शन आदि करके शाम तक मठ लौट आना।" तदनुसार हम लोगों ने शनिवार को भोर में स्नान करके कुछ फूल लेकर ठाकुर तथा स्वामीजी के मन्दिरों में जाकर उनके चरणों में अर्पित किये। तत्पश्चात् स्वामी प्रेमानन्दजी को प्रणाम किया और ब्रह्मचारी गोविन्द के साथ बागबाजार में उद्बोधन – 'माँ के घर' गये। वहाँ प्रवेश करने के पूर्व ही गोविन्दजी ने खड़े होकर दीवार से माथा टेककर प्रणाम किया। उनकी इस गहन भक्ति की अभिव्यक्ति देखकर हम लोगों ने भी वैसे ही दीवार से सिर लगाकर प्रणाम किया। हम लोग 'माँ के घर' में प्रवेश करके बाँयी ओर के कमरे में गये। वहाँ स्वामी सारदानन्दजी बैठे थे। पहले हम लोगों ने उन्हीं को प्रणाम किया। उन्होंने कुछ देर हम लोगों के साथ बातें भी कीं। इसी बीच उद्बोधन के व्यवस्थापक महाराज ने कहा – "माँ अभी पूजा कर रही हैं। पूजा समाप्त होने पर दर्शन होगा।" हम लोग प्रतीक्षा करने लगे।

सुबह ९ बजे के बाद माँ की पूजा समाप्त हुई और हमें बुलाया गया। पहले मुझे ही उनके पास ले जाया गया। उनके पूजा के कमरे में पहुँचकर मैंने देखा – सिंहासन पर ठाकुर का चित्र पश्चिम की ओर मुख किये स्थापित है। उन्हें साष्टांग प्रणाम करने के बाद मैंने माँ को भी प्रणाम किया। माँ ने मुझे अपनी बाँयी ओर बैठने को कहा। वे उत्तर की ओर मुख किये पूजा के आसन पर बैठी थीं। इसके बाद उन्होंने कुछ देर ठाकुर की पूजा करके मेरे हाथ पर थोड़ा-सा गंगा-जल दिया। मैं नहीं जानता था कि इस गंगाजल को मुँह में डालना होगा। पिता के श्राद्ध में पुरोहित का दिया हुआ गंगा-जल मैंने अपने सिर और आँखों पर छिड़का था। माँ का दिया हुआ यह पुण्यजल मैंने वैसे ही अपने सिर तथा आँखों में छिड़का। माँ ने पुन: थोड़ा-सा जल मेरे हाथ में देकर जीभ पर छिड़कने को कहा। तत्पश्चात् उन्होंने मुझे रामकृष्ण-मंत्र की दीक्षा दी। फिर दाहिने हाथ की उँगलियों पर कैसे जप करना होगा, वह भी उन्होंने तीन बार करके मुझे दिखा दिया। इस प्रकार दस बार नाम-जप किया जा सकता है। इसके बाद उन्होंने मुझे माँ-काली का मंत्र भी दिया। दीक्षा के बाद उन्होंने मुझसे गुरु-दक्षिणा माँगा। मैंने अपने वस्त्र के छोर में बँधा एक रुपये का सिक्का निकाला और ज्योंही उन्हें देने चला, त्योंही मन में आया कि मैं किस तरह यह सिक्का उनके हाथ में दूँगा? क्योंकि वे एक ऐसे व्यक्ति की सहधर्मिणी हैं, जो स्वयं कभी मुद्रा का स्पर्श नहीं करते थे या कर नहीं पाते थे। इसलिये मैंने मुद्रा को उनके बाँये पाँव के पास रख दिया। उन्होंने तत्काल मेरे मन का भाव समझ लिया और परम करुणा से वह मुद्रा उठाकर एक ओर रख लिया – इस प्रकार उन्होंने सूचित किया कि उन्होंने मुद्रा को स्वीकार किया है। तब मैंने परम श्रद्धापूर्वक माँ को साष्टांग प्रणाम किया और मन-ही-मन बोला, "माँ, आप यदि कृपा करके अपने श्रीचरण थोड़ा उठायें, तो उन्हें अपने सिर पर रखकर मैं कृतार्थ हो जाऊँ।" उन्होंने तत्क्षण मेरे मन का भाव समझकर वैसा ही किया। मैंने उनके श्रीचरणों को अपने सिर पर रखा और मुझे एक दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई। उसी अवस्था में मैंने कहा – "माँ, कृपया मुझे पवित्रता और भक्ति दीजिये।" पिछली रात में आनन्द के उच्छ्वास में मैं जरा-सा भी सो नहीं सका था। मन में असंख्य बार प्रश्न उठा था कि माँ का दर्शन होने पर उनसे क्या माँगूंगा और अन्त में निश्चय किया कि माँ से यही प्रार्थना करूँगा। माँ ने तत्क्षण एक फूल उठाया और उसे मेरे सिर पर रखकर बोलीं, "तुम जो चाहते हो, श्री गुरु महाराज तुम्हें वही देंगे।" माँ की इस बात से मैंने परम सांत्वना का अनुभव किया और परम

* माँ के मंत्रशिष्य स्वामी अम्बानन्द का पूर्वाश्रम केरल के त्रिवेंद्रम में था। उनका पूर्वनाम था सी. मधुरन पिल्लै। लेख में उनके भाई का नाम सी. दामोदरन पिल्लै उल्लिखित है।

आनन्द तथा यत्नपूर्वक वह फूल अपने पास रखा। दो-तीन दिनों में उस फूल को थोड़ा-थोड़ा करके मैं पूरा खा गया।

उसके बाद माँ ने मुझसे कुछ देर जप करने को कहा। मैं आनन्द-विभोर होकर जोर-जोर से मंत्र जपने लगा। माँ ने होठों पर उँगली रखकर कहा, "मुँह से नहीं, मन में जप करो।" उनके निर्देशानुसार जप करके मैंने उन्हें दुबारा साष्टांग प्रणाम किया। वे मुझसे बोलीं, "बाहर जाकर अपने भाई को भेज दो।" बाहर आकर मैंने भाई को भेज दिया।

भाई के लौटने पर हम दोनों नीचे व्यवस्थापक महाराज के कमरे में गये और वहाँ बैठकर चुपचाप जप करने लगे। दोपहर में हम स्वामी सारदानन्दजी तथा अन्य लोगों के साथ एक कमरे में भोजन करने बैठे। कमरे में माँ का एक अपूर्व चित्र रखा हुआ था। परोसे जाने पर अन्य सभी ने भोजन करना शुरू किया, परन्तु हम दोनों चाहते थे कि माँ का प्रसाद पाने के बाद ही भोजन ग्रहण करेंगे, अत: हम लोग चुपचाप बैठे थे। श्रीरामकृष्ण की भतीजी लक्ष्मीदीदी भोजन परोस रही थीं। उन्होंने मेरे मन की इच्छा जानकर कहा, "भाई, माँ ने अभी खाना शुरू नहीं किया है। उन्हें भोजन परोस दिया गया है। उन्होंने तुम लोगों को खिलाने को कहा है। उनके भोजन शुरू करने पर मैं तुम लोगों के लिये प्रसाद ला दूँगी। तुम लोग खाना शुरू करो। कुछ देर बाद उन्होंने हमें माँ का प्रसाद ला दिया। घी और दाल में सना हुआ दो मुठ्ठी भात। भक्तिभाव से हम लोगों ने वह प्रसाद बाँटकर खाया। शाम को हम माँ से विदा लेकर दक्षिणेश्वर गये।

दस दिन बाद विजया-दशमी के दिन सुबह हम लोग स्नान आदि से निवृत होकर फिर माँ के घर गये। वहाँ माँ के लिये कुछ अच्छी मिठाइयाँ लाने के लिये मैंने रासबिहारी महाराज को कुछ रुपये दिये। हम मैनेजर महाराज के कमरे में बैठे। माँ के पूजा कर लेने के बाद हम लोग उनके पास गये और उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। दोपहर का प्रसाद हमने वहीं पाया। उस दिन शाम को दक्षिणेश्वर जाकर पूजा देकर शाम को छह बजे हम लोग बेलूड़ मठ लौट आये।

एक शाम को हम दोनों कई लोगों के साथ माँ के पास गये। उस दिन उन्होंने हम लोगों से कोई बात नहीं की। मन में बड़ा कष्ट हुआ, पर तभी माँ ने स्नेहभरी दृष्टि से मेरी ओर देखा और परम करुणा के साथ मेरी ओर हल्के से हँसी।

अपनी वाराणसी यात्रा के पूर्व हम माँ से विदा लेने गये। उस समय उन्होंने हम लोगों से करीब पन्द्रह मिनट बातें कीं और विभिन्न विषयों पर पूछताछ भी किया। दूसरी बातों के बीच उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या पहले कभी काशी गये हो? तुम लोगों के साथ और कौन जा रहे हैं? वहाँ कितने दिन रहोगे? वहाँ से तुम लोग यहाँ लौटोगे या वहीं से सीधे अपने घर लौट जाओगे? तीर्थयात्रा के लिये तुम लोगों के पास पर्याप्त रुपये-पैसे हैं या नहीं? न हो तो मैं दे दूँगी। मुझे बताने में संकोच न करना। यदि लौटाना चाहो, तो सुविधानुसार लौटा देना। वहाँ राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) है। मेरा एक काम करोगे? राखाल को मेरा आशीर्वाद कहना। इससे मुझे बड़ी खुशी होगी। मठ लौटने पर तत्काल यहाँ चले आना।" इस प्रकार परम स्नेह से उन्होंने हमसे बहुत-सी बातें कीं। हमारा मन आनन्द से परिपूर्ण हो गया। मैं अपनी माँ को खो देने का दु:ख भूल गया। माँ का मुख मुझे अपनी माँ के मुख की याद दिला रहा था। सोचा, यदि प्रत्येक माँ का स्नेह इन माँ के जैसा हो, तो यह पृथ्वी एक आनन्द-भवन बन जाय।

काशी पहुँचकर हम लोग स्वामी ब्रह्मानन्दजी के पास गये और उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। माँ ने मुझसे जो कहा था, उसे मैं उन्हें बताने का मौका देखने लगा। दो-तीन दिन बाद महाराज अकेले दिखे। उनके पास जाकर साष्टांग प्रणाम करके मैंने कहा, "महाराज, आपसे मेरा कुछ निवेदन है। मैं नहीं जानता कि कैसे व्यक्त करूँ? ठीक-ठीक न व्यक्त कर पाने पर कृपया मुझे सुधार देंगे।" वे बोले, "काफी क्षमा माँग ली, अब जो कहना है, जल्दी कहो।" तब माँ ने जो कहने को कहा था, वह मैंने उन्हें बताया। माँ का वह आशीर्वाद उन्होंने परम भक्ति और श्रद्धा से मस्तक झुकाकर ग्रहण किया। इसके बाद उन्होंने मुझसे कहा, "माँ से क्या तुम्हारी फिर भेंट होगी?" मैंने कहा, "होगी।" महाराज बोले, "उनसे कहना कि मैं उनका आशीर्वाद पाकर स्वयं को कृतार्थ अनुभव कर रहा हूँ। तुम मेरी ओर से माँ के चरणों में भक्तिपूर्ण साष्टांग प्रणाम करना।" माँ की ही कृपा से उनका सौंपा हुआ दायित्व सन्तोषजनक रूप से सम्पन्न हुआ।

एक दिन माँ से एक रुद्राक्ष की माला पाने की इच्छा से मैं उनके पास गया। उसी दिन माँ का अकेले में दर्शन हुआ। माँ से अनुरोध करने पर उन्होंने मुझे एक रुद्राक्ष की माला दी। मैंने मलयालम भाषा में प्रार्थना की – "माँ, यह माला मैं आपके गले में पहनाना चाहता हूँ।" माँ ने तत्काल अपना सिर आगे बढ़ा दिया और मैंने भक्ति भाव से माला उनके गले में पहना दी। वे उसी समय माला मुझे लौटाने जा रही थीं यह देखकर मैं दुबारा मलयालम भाषा में ही बोला – "माला को कुछ देर अपने गले में ही रहने दीजिये।" इसके बाद मेरे भाई ने कर-जप के बारे में एक प्रश्न पूछा। उत्तर की व्याख्या करके उसे सन्तुष्ट करने तक वह माला वे गले में ही पहने रहीं। उसके बाद जब वे माला उतारकर मुझे देने लगीं, तो मैंने कहा – "माँ, दया करके इस माला से कुछ देर जप करके उसके बाद अपने आशीर्वाद के रूप में मुझे दें।" माँ ने माला लेकर कुछ देर जप किया और तब मुझे दिया। मैंने माला लेकर अपने गले में पहन लिया। तब माँ बोली, "उसे हाथ में लेकर कुछ देर जप करो।" मैं माला हाथ में लेकर

मन-ही-मन माँ का दिया हुआ रामकृष्ण नाम का महामंत्र जप करने लगा। जब मेरा लगभग बीस जप हो चुका, तब माँ बँगला में बोल उठी, "नहीं, नहीं, यह नहीं, दूसरे मंत्र का जप करो।" मैंने सिर हिलाकर बताया कि मैं उनकी आज्ञा समझ गया हूँ, लेकिन तब भी मैं रामकृष्ण नाम ही जपता रहा। वैसे उन्होंने दुबारा कुछ नहीं कहा। मुझे लगा कि इसमें माँ की सहमति है। थोड़ी देर रामकृष्ण नाम का जप करने के बाद, मैंने उनसे प्राप्त देवी-मंत्र का भी जप किया। जप करने के बाद माँ को देखकर लगा कि वे असीम करुणामयी हैं। उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। इस घटना से मैंने अनुभव किया कि माँ से कुछ कहना नहीं पड़ता, वे अन्तर्यामिनी हैं। ...

एक दिन सहसा मेरे मन में इच्छा हुई कि माँ से मैं उनके चरणामृत माँगूँगा और अपनी प्रार्थना स्वीकृत हो जाने पर मैं स्वयं को परम कृतार्थ समझूँगा।... इससे मैं अनेक भक्तों को उनका चरणामृत दे सकूँगा। यह मेरे तथा उन सबके लिये उनके आशीर्वाद स्वरूप होगा। इसी उद्देश्य से मैंने थोड़ा-सा गंगाजल लेकर बड़े यत्न से दो अँगुल की एक शीशी में भर रखा था। इसके बाद एक दिन सुबह उद्बोधन गया और व्यवस्थापक महाराज से बोला, "मुझे एक चपटे बर्तन की जरूरत है। जिस काम के लिये जरूरत है, यह मैं आपको बाद में बताऊँगा।" उन्होंने कृपा करके वैसा ही एक बर्तन मुझे दे दिया। वह पात्र लेकर मैं और मेरा भाई उनके साथ ही माँ के पास गये। महाराज से मैंने माँ को यह बातने को कहा कि मेरी एक प्रार्थना उन्हें मंजूर करनी होगी। उनके मेरी बात का अनुवाद कर माँ को बताने के पहले ही माँ ने अपने चरण -युगल बढ़ा दिये। वह पात्र उनके श्रीचरणों के नीचे रखकर मैं शीशी से गंगाजल उनके श्रीचरणों पर डालने लगा। मैंने मन-ही-मन कहा – "माँ, मैं इतना ही कर सकता हूँ।" तब उन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक मेरी ओर देखा। थोड़ा गंगाजल अपने हाथ में लेकर उससे थोड़ी देर जप करने के बाद उस पूत वारि को उन्होंने अपने चरणों पर डाल दिया। इसी प्रकार उन्होंने तीन बार जप किया और वही जल मुझे ले लेने को कहा। मैं स्वयं को परम सौभाग्यवान और पवित्र बोध करने लगा। मैंने माँ के श्रीचरणों के नीचे से वह पात्र हटाकर एक गुलाबी रंग के तौलिये से यत्नपूर्वक उनके दोनों चरण पोंछ दिये। इसके बाद मैंने माँ को साष्टांग प्रणाम किया। मैंने अनुभव किया कि माँ अपनी परम करुणा से मेरे प्रति प्रसन्न हैं। बाद में मैंने अपने भाई से सुना था कि उन्होंने धीरे से व्यवस्थापक महाराज से कहा था, "देखो, लड़के ने कितनी भक्ति से यह सब किया।" सोचा, यह भी तो उन्हीं की कृपा, उन्हीं का आशीर्वाद है। इसके बाद वही चरणामृत पीने के लिये थोड़ा-सा अपने भाई को दिया और थोड़ा स्वयं पीया। बचा हुआ चरणामृत मैंने यत्नपूर्वक शीशी में रख लिया। शाम होने पर माँ को फिर साष्टांग प्रणाम करने के बाद हम लोग बेलूड़ मठ लौट आये। वही चरणामृत आज भी मेरे पास है और उसमें से मैंने एक-एक बूँद करके अनेक भक्तों को दिया है। वस्तुत: यह चरणामृत माँ का एक प्रत्यक्ष आशीर्वाद है, जिसका अंश मैं दूसरों को भी दे सकता हूँ।

कोलकाता से हम लोगों के वापस अपने घर लौटने का दिन निश्चित हो जाने के बाद हम लोग माँ से विदा लेने बेलूड़ से उद्बोधन गये। बातों-बातों में माँ ने पूछा, "क्या तुम लोग मुझे दुबारा देखने नहीं आओगे?" इस प्रश्न का उत्तर देने की क्षमता मुझमें नहीं थी। मैं निर्धन था और बड़ी कठिनाई से इतनी दूर आ सका था। ऐसा मौका क्या दुबारा आयेगा? कुछ देर सोचने के बाद मैंने हाथ जोड़कर माँ से कहा, "हाँ माँ, फिर आऊँगा।" मुझे अनुभव हुआ कि माँ मेरे मन का भाव समझ गयी हैं और मेरे उत्तर से सन्तुष्ट हो गयी हैं।

आगामी अर्थात् घर लौटनेवाले दिन हम अपने एक चाचा के आमंत्रण पर पुन: कोलकाता गये। मेरे इन भक्त चाचा को श्रीरामकृष्ण के दर्शन का दुर्लभ सौभाग्य मिला था।

हमारे पास करीब तीन घण्टे बचे थे, मौका देख कर हम लोगों ने सोचा कि एक बार और जाकर माँ को प्रणाम करके उनसे विदा ले आयें। हमें देखकर वे बहुत आनन्दित हुईं। हम लोग जब उनसे विदा ले रहे थे, तो इस बार उन्होंने वह प्रश्न नहीं किया, "तुम लोग क्या फिर नहीं आओगे?"

माँ का दर्शन करने के कई वर्ष बाद एक दिन मैंने मन-ही-मन सोचा कि यदि मैं डेढ़ रुपये भेजकर रासबिहारी महाराज से अनुरोध करूँ कि एक रुपये की मिश्री खरीदकर माँ को दे दें, ताकि वे उसे ठाकुर को भोग देकर उसका थोड़ा-सा प्रसादी अंश मुझे भेज दें, तो बहुत अच्छा होगा। परन्तु जब मैं वेतन पाता, तो यह बात बिल्कुल ही भूल जाता और वेतन के सारे रुपये शीघ्र ही खर्च हो जाते। इस प्रकार छह महीने बीत गये और मेरी इच्छा पूरी नहीं हुई।

एक विशेष पुण्य दिन जब मैं पूजा समाप्त करके उठा, तो मुझे दो पत्र मिले। हाथ की लिखावट से मैं पहचान गया कि उन्हें स्वामी विशुद्धानन्दजी ने भेजा है। एक को मैंने पढ़ लिया और दूसरे को खोलकर देखा, उसमें एक छोटा पैकेट था, जिस पर लिखा था – "श्रीमाँ का प्रसाद"। पैकेट में थोड़ी-सी मिश्री थी। मेरे विस्मय और आनन्द की सीमा न रही। यह घटना निश्चित रूप से माँ की उस अन्तर्दृष्टि तथा अन्तर्यामित्व की परिचायक थी, जो भक्तों की हार्दिक आकांक्षा को जानकर उसे पूर्ण करती है। उनकी दिव्य करुणा अपूर्व, अतुल्य तथा हम लोगों की क्षुद्र बुद्धि के लिये अगम्य है।*

---

* उद्बोधन, वर्ष ९८, संख्या ७, श्रावण १४०३, पृ. ३४४-३४७; द्रष्टव्य – Vedanta Kesari, December 1953, pp. 326-330 ❑

दैवी सम्पदाएँ (१९) लज्जा

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

गीतोक्त दैवी-सम्पदाओं में एक सम्पदा ह्री अर्थात् लज्जा है। ह्री के पर्याय हैं – **मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीड़ा लज्जा**। लज्जा को दैवीगुण मानने में व्यक्ति एवं समाज के धर्म की रक्षा का भाव समाहित है। भगवान श्रीकृष्ण ने सुरासुर प्रवृत्तियों के अनुक्रम में लज्जाशीलता सुरों की और निर्लज्जता को असुरों की प्रवृत्ति निरूपित किया है। महाभारत (शान्ति., २१.१२) में धर्म के अंगों में लज्जा का समावेश है –

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः।
प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम्।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।

पाराशर-गीता में लज्जा को सुखावह कहा है –

दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाऽव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः।
(महा., शान्ति., २९०-२०)

धर्मरूप यक्ष ने कहा था –

यशः सत्यं दमः शौचम्
आर्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यम्
इत्येता स्तनवो मम॥

अर्थात् यश, सत्य, दम, शौच, आर्जव (समचित्तता – महा.) ह्री, अचपलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य – ये मेरे शरीर हैं, मेरे आधार हैं। इसमें मेरी सत्ता है।

यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा – लज्जा क्या है? उन्होंने उत्तर दिया – '**ह्रीः अकार्य-निवर्तनम्** – अनुचित कार्य का आवर्तन' – रोकनेवाला मानसिक भाव लज्जा है। जब व्यक्ति में समाज की मर्यादा के विपरीत कार्य करने की इच्छा जाग्रत हो और वह समाज की जिस मर्यादा के भय से उसे करने से रुके, वही लज्जा है। लज्जा अनीति पर चलने से रोकती है। 'रस-तरंगिणी' में स्वच्छन्द क्रिया के संकोच को लज्जा कहा है – **स्वच्छन्द क्रिया – संकोचः व्रीड़ा**।[१] लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण करने में जो संकोच होता है, उच्छृंखल व्यवहार पर जो स्वाभाविक रोक लगती है, वही लज्जा का रूप है। साधक को मान्य साधनों के प्रतिकूल आचरण करने में लज्जा आती है। वह सोचता है, ऐसा करने से शास्त्र तथा लोक मर्यादाओं का उल्लंघन होगा, मेरी साधना निन्दित हो जायेगी और लोग मेरे बारे में क्या सोचेंगे? क्या कहेंगे? वे भी गलत मार्ग पर चल पड़ेंगे, इससे समाज में दूषित परम्परा चल पड़ेगी। ऐसे विचार आने पर वह स्वतः अकार्य करने से रुक जायेगा। इस दशा में जिस आन्तरिक द्वन्द्व और मनोभाव का अनुभव होगा, उसी को 'लज्जा' समझा जा सकता है।

आचार्य शुक्ल ने इसे यों परिभाषित किया है – "दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है, उसकी स्वच्छन्दता के विघात से होनेवाले अनुभव को लज्जा कहते हैं।"[२]

लज्जा एक प्रकार का संवेग (Emotion) है। दया, प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि संवेगों के साथ इसकी भी महत्ता है। मूलतः यह सब में विद्यमान है।[३] फिर भी समाज अपने प्रत्येक सदस्य को इससे संस्कारित करता है, उसके उद्विकास का प्रयत्न करता है। कविवर प्रसाद ने अपने महाकाव्य 'कामायनी' में लज्जा का अच्छा विश्लेषण किया है। यद्यपि यह नारी के स्वाभाविक गुण के रूप में प्रस्तुत है। तदनुसार मानव-मन में प्रथम 'काम' अर्थात् इच्छा जाग्रत होती है, तत्पश्चात् उससे तीव्रता अर्थात् वासना का विकास होता है, जिसे अनुशासित करने के लिये ही प्रकृति ने लज्जा को प्रादुर्भूत किया है। जब काम-गोत्रजा श्रद्धा कामायनी में 'वासना'-भोग की उत्कट अभिलाषा जागृत होती है और अपने आपको वह समर्पण के लिये तैयार करती है, तब लज्जा ही उसका प्रतिषेध करती है और वासना को अनियंत्रित भोग से रोक देती है। श्रद्धा पूछती है – "अयि, तुम कौन हो?" छाया-प्रतिमा का उत्तर है – "बाले, इतना चौंक मत। मैं वह पकड़ हूँ, जो कहती है, ठहर, जरा सोच-विचार कर ले। मैं सौन्दर्य की धात्री हूँ – वही चपल सौन्दर्य, जो चेतना का उज्ज्वल वरदान है और जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने जगते रहते हैं। मैं उसे गौरव और महिमा का पाठ सिखाती हूँ – उसको जो ठोकर लगनेवाली होती है, उससे मैं धीरे से सचेत करती

---

१. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की 'चिन्तामणि' पर 'मंजूषा' पृ. ५९

२. आचार्य शुक्ल – 'चिन्तामणि' लज्जा नामक निबन्ध

३. या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥ (दुर्गा-सप्तशती)
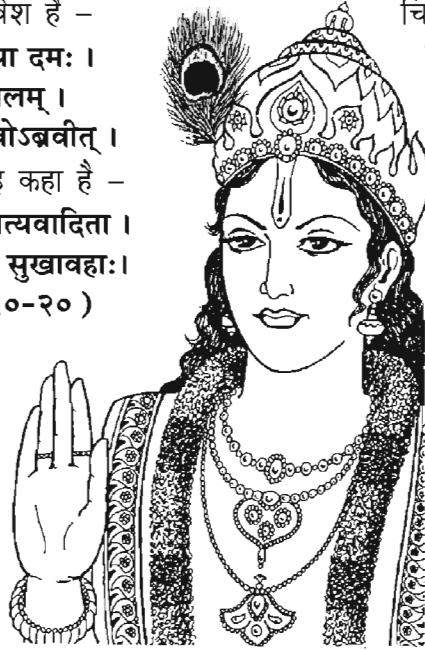
हूँ। मैं लज्जा हूँ, रति की प्रतिकृति हूँ। वही रति, जो देवसृष्टि की रानी थी। मैं शालीनता की शिक्षा देती हूँ। मतवाली सुन्दरता के पैरों में मैं नूपुरों के समान लिपट जाती हूँ, सरल कपोलों में लाली और आँखों में अंजन तथा कुंचित अलकों में घुँघरालेपन के समान छा जाती हूँ और सुन्दरियों के मन की मरोड़ बनकर जागती रहती हूँ। तुम जो पूछती हो, मैं कौन हूँ? सुन्दरी किशोरी ! मैं चंचल किशोर सुन्दरता की रखवाली करनेवाली हूँ। मैं वह हल्की-सी मसलन हूँ जो कानों की लाली के रूप में प्रकट हो जाती है।''[४]

मै उसी चपल की धात्री हूँ, गौरव महिमा सिखलाती ।
ठोकर जो लगनेवाली है, उसको धीरे से समझाती ।
मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, शालीनता सिखाती हूँ ।
मतवाली सुन्दरता वश में, नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ ।
चंचल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहती रखवाली ।
मैं वह हल्की सी मसलन हूँ, जो बनती कानों की लाली।[५]

लज्जा में चंचलता, घबराहट, विनम्रता, कोमलता, कुतूहल, अनुताप, अवसाद, रोमांच, मौन, निर्णय-परतंत्रता, गौरवानुभूति, मानबोध और विवशता आदि सहकारी भाव होते हैं। आँखें झुकी, पनियारी और चमकदार हो जाती हैं। यह संयम, शील और सौन्दर्य की पोषिका तथा संरक्षिका है।[६]

आचार्य शुक्ल के अनुसार – सात्त्विक वृत्तिवालों के लिये ग्लानि, राजसी वृत्तिवालों के लिये लज्जा और तामसी वृत्तिवालों के लिये भय – ये तीन मनोविकार हैं। जिनसे अकार्य के संकल्प या प्रवर्तन से व्यक्ति बचता है। जिसे अपने किये पर ग्लानि नहीं हो सकती वह लज्जा से, जिसमें लज्जा नहीं वह भय से बहुत से अनुचित कर्मों को करने से हिचकते हैं।[७] आचार्य शुक्ल की परिभाषा में आशंका और संकोच दो तत्त्व हैं। आशंका अनिश्चयात्मक वृत्ति है, जो इष्ट की हानि अथवा अनिष्ट की कल्पना से होती है।[८] इसका सम्बन्ध दूसरों की धारणा से है। दूसरे लोग कहीं हमें गलत तो नहीं समझ रहे हैं? हमें कहीं बुरा तो नहीं मान रहे हैं? समाज हमें हेय तो नहीं समझेगा? आदि आशंका है। इसीलिये अकार्य करने से रुक जाते हैं। संकोच लज्जा का हल्का रूप है। दूसरों की असुविधा, हानि या धारणा का ध्यान रखते हुये कार्य सम्पादन में जो स्वाभाविक शिथिलता आती है, वही संकोच है। यह शील का अंग है। इसमें क्रिया-विरह अवच्छिन्नता नहीं आती। ''लज्जा और शंका का साथ हो सकता है। पर दोनों भिन्न मनोवृत्तियाँ हैं। लज्जा में क्रिया का संकोच (सिमटाव) मात्र होता हैं। शंका में तो क्रिया रुक ही जाती है। क्रिया विरह तो त्रास में भी होता है।''

''संकोच आगे-आगे चलता है, तो लज्जा में लीन हो जाता है; पीछे-पीछे चलता है, तो लज्जा को दिखाता चलता है। अर्थात् संकोच का अभ्यास संकोची या लज्जालु बना देता है। और यह लज्जा की चेष्टा या अनुभव के रूप में उसका पता भी देता रहता है।''[९]

लज्जा और भय में अन्तर है। लज्जा राजसिक भाव है[१०] और भय तामसिक। आचार्य शंकर ने इसे सात्त्विक भाव कहा है।[११] लज्जा अपने दुष्कृत्यों के परिणामों की आशंका से होती है, जबकि भय के लिये यह जरूरी नहीं है। लज्जा में क्रिया-संकोच होता है, जबकि भय में क्रिया-विरह सम्भव है। लोकनिन्दा का भय लज्जा का कारण हो सकता है। लज्जा और ग्लानि में भी अन्तर है। ग्लानि आत्मोन्मुखी और लज्जा समाजोन्मुखी भाव है। ग्लानि में व्यक्ति अपने दुष्कृत्यों पर स्वयं विचार करता है, जबकि लज्जा में व्यक्ति बाह्योन्मुखी होकर समाज की धारणाओं के बारे में सोचता है। ग्लानि स्वबद्ध और लज्जा लोकबद्ध है। ग्लानि उन्हीं को होती है, जिनका अन्त:करण शुद्ध सात्त्विक और संस्कारयुक्त है।

लज्जा दो प्रकार की होती है (१) व्यक्तिगत लज्जा (२) समाजगत लज्जा। व्यक्तिगत लज्जा – एक तरह की ग्लानि अथवा नैतिक चेतना है; और लोकलज्जा – लोकनिन्दा एवं सामाजिक दण्ड का भय है। प्रथम में व्यक्ति स्वयं परिताप, विवेक तथा विचार करता है, द्वितीय में सामाजिक अप्रतिष्ठा, समाज की दृष्टि में पतन की आशंका है। सामाजिक प्रतिष्ठा की लालसा हर व्यक्ति में होती है। इसके खोने के भय से, सामाजिक अपमान से वह जीवित होते हुये भी मृत्यु के दारुण दु:ख का अनुभव करता है।[१२]

जिसमें स्वविवेक एवं नैतिक चेतना है, वह अपने अकार्य -कर्म से रुकेगा और जो समाज में स्वयं को प्रतिष्ठावान मानता है, वह लोकलज्जा के कारण निषिद्ध कर्म नहीं करेगा। **साधुन ढिग बैठि-बैठि लोकलाज खोई** – कहकर मीरा ने लोकलज्जा की चिन्ता छोड़ दी थी। **जब ओढि लीनी लोई, तब क्या कहेगा कोई** – की लोकोक्ति का तात्पर्य यही है कि जब व्यक्ति निर्लज्जता अपना लेता है, तब उसे लोक -लाज की चिन्ता नहीं रहती। आज समाज दुर्बल होता जा रहा है, व्यक्ति पर उसकी पकड़ ढीली पड़ रही है। परिणामत: सामाजिक दबाव के अभाव में बहुत-से निषिद्ध कर्म हो रहे हैं। चारों ओर से समाज का विघटन हो रहा है। विघटित समाज दबावहीन तथा निर्बल हो जाता है। वह अपने ही सदस्यों पर किसी प्रकार का दबाव नहीं बना सकता।

४. कामायनी सौन्दर्य, डॉ. फतहसिंह, इलाहाबाद ५. तथा ६. कामायनी ७. आचार्य शुक्ल – 'लज्जा' निबन्ध ८. उत्कटकोटिकानिष्ट-प्रतिसंधानमिष्टहानिविचारो वा शंका। (रस-तरंगिणी 'मंजूषा' में उद्धृत)

९. मंजूषा, डॉ. विश्वनाथ मिश्र १०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
११. गीता, शांकर भाष्य
१२. सम्भावितस्य चाकीर्तिः मरणादतिरिच्यते। (गीता)
संभावित कँह अपजस लाहू, मरण कोटि सम दारुण राहू।। (मानस)

लज्जा मनुष्य का गुण है। उसकी सम्पत्ति, विशेषता और दायाद है। पशुओं में इसका अभाव है। गाय, बैल, कुत्ते, बन्दर आदि पशुओं में लज्जा नहीं होती। उनमें नैतिक चेतना तथा सामाजिक मर्यादायें नहीं होतीं। अत: उनमें लज्जा का अभाव है। मनुष्य लज्जाशील प्राणी है। उसके लिये वैयक्तिक तथा समाजिक मर्यादाओं का पालन अनिवार्य है, अन्यथा उसे लज्जित होना पड़ता है। लज्जा, व्यक्ति अथवा समाज की मर्यादा है। लज्जा कुछ कार्य-व्यवहारों में रूढ़ हो गई है, जो गलत है। वह गलत, अनैतिक, अधार्मिक, असामाजिक तथा शास्त्रनिषिद्ध कृत्यों के निष्पादन में होनी चाहिये।

लज्जा की मुख्य विशेषतायें निम्नांकित हैं –

(१) लज्जा एक मनोवेग है। यह मन:संवेग है, जो सभी में है, किन्तु समाज इसे विकसित और संस्कारित करता है।

(२) लज्जा का सम्बन्ध दूसरों की धारणा से है। अन्य लोग हमें कैसा समझते हैं? उनकी दृष्टि में हमारा क्या स्थान है? कहीं वे लोग हमारी निन्दा, अपमान या उपेक्षा तो नहीं करते? कहीं वे हमें बुरा तो नहीं मानते? समाज में जब हम किसी के साथ कुछ बुरा करते हैं, बुराई का साथ देते हैं या शंका के लक्ष्य बनते हैं, तब हमें सामने आने में संकोच होता है, क्योंकि हमें आशंका होती है कि अब हमारे बारे में लोगों की धारणा अच्छी नहीं है।

(३) लज्जा अपने ही कर्मों के कारण होती हो – ऐसा नहीं है, वह दूसरों के कारनामों पर भी हो सकती है, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिये जिससे उसका सम्बन्ध है, उसके 'अकार्यों' के प्रति भी लज्जा हो सकती है। पुत्र की अयोग्यता और दुराचार, भाई के दुर्गुण तथा असभ्य व्यवहार, मित्र की उद्दण्डता एवं दुष्कृत्यों पर व्यक्ति को लज्जा होती है। यहाँ तक कि लोग अपने कुत्ते के गुर्राने, भौंकने और काटने पर भी लज्जित हो जाते हैं।

(४) लज्जा अनजाने कारणों से भी होती है। यदि कोई कुचक्र रचकर बुरे कामों में नाम फँसा देता है, तो उसका वृत्तान्त फैलने पर लज्जा आती है। यद्यपि व्यक्ति को उसके कारण-रूप कार्यों की कोई जानकारी नहीं होती।

(५) भीरुता भी कभी कहीं लज्जा का सहकारी भाव बन जाता है।

(६) लज्जा का निवास आलसी व्यक्ति में नहीं होता। आलसी में क्रिया ही नहीं होती, जबकि लज्जालु क्रियाशील होता है। इसलिये ऐश्वर्य, श्री, लज्जा, धैर्य, कीर्ति और दक्षता आलसी में नहीं होती – **भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिर्दाक्ष्यं नालसे।** (महाभारत, शान्तिपर्व, २७.३१)

(७) लोभ से लज्जा नष्ट नहीं होती है। अक्षमा, निर्लज्जा, श्रीनाश, धर्मक्षय, दूसरों के धन को हड़पने का लोभ (अमिध्या) और अपकीर्ति (अप्रख्यता) लोभ से ही पैदा होते हैं –

अक्षमा ह्री परित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः।
अमिध्याऽप्रख्यता चैव सर्वलोभात् प्रवर्तते ।। (वही)

(८) महाभारत (शन्तिपर्व, १६२.९) में सत्य के तेरह स्वरूप बताये गये हैं, जिनमें एक स्वरूप लज्जा है। लज्जा धर्मरूप है और इस लज्जा धर्म की प्राप्ति सदाचरण से होती है, जो सभी का कल्याण करता है। जिसके मन में ग्लानि नहीं है, जिसका मन और वाणी नित्य शान्त है, वह लज्जाशील है –

कल्याणं कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित्।
प्रशान्तवाङ्मनो नित्यं ह्रीरस्तु धर्माद् अवाप्यते ।।
(महा., शान्ति., १६२.१५)

लज्जा संवेदनशील व्यक्ति को ही होती है। जो असंवेदनशील, चिकना और मोटी चमड़ी का है, उसे लज्जा का बोध नहीं होता। काम, क्रोध, मोह आदि विकारों के समुद्र में डूबे व्यक्ति से लज्जा पलायन करती है। जो आसुरी वृत्तियों में अनुरक्त तथा दुर्गुणों से परिपूर्ण है; परपीड़न ही जिसका स्वभाव है; अनीति, अत्याचार, हिंसा तथा आतंक जिसके जीवन के ध्येय हैं; वह निर्लज्ज है। लज्जा जैसा दैवी गुण उसमें नहीं होता। **एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्यविजयी भवेत्, असती भवति सलज्जा** एवं **नारीणां भूषणं लज्जा** - जैसे घोष भी सुनने को मिलते हैं। समाज ने लज्जा की पूरी जिम्मेदारी नारी को ही सौंप दी है और इसी आधार पर साहित्य-शास्त्रियों ने नायिका भेद की कल्पना की पुष्टि कर दी है। उल्लेखनीय है लज्जा यदि स्त्री का आभूषण है, तो पुरुष का कवच है। यह लोक और शास्त्र की मर्यादाओं के संरक्षण का प्रकृति-प्रदत्त मानवीय गुण है। यद्यपि यह सच है कि आज समाज में निर्लज्जता का वातावरण है। शास्त्र उपेक्षित और लोक विघटित है। तो भी लज्जा की प्रासंगिकता अपने स्थान पर अविचल है। समाज सहस्राक्ष, सहस्रशीर्ष, सहस्र-कर्ण, सहस्रमुख और सहस्रपाद है। अत: विराट् पुरुष है। वर्द्धमान होने से ब्रह्म है। इस ब्रह्म की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग लज्जा है। महर्षि वेदव्यास ने इसकी स्पष्ट घोषणा की है –

आनृशंस्य क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम्।
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा ।।
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्पदम्।
तद् विद्वान् अनुबुद्ध्येत मनसा कर्म निश्चयम् ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व, २१०.४०)

प्राणि मात्र पर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, आर्जव, अद्रोह, विनम्रता, लज्जा, तितिक्षा और शम – ये ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग हैं। इनसे जीव परम ब्रह्म को पा लेता है। मन से कार्य का निश्चय कर विद्वान् इन मार्गों को ठीक-ठीक समझ लें। ❑❑❑

सुहृद की खोज

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

हम श्रीमद् भगवद्गीता में कई स्थानों पर सुहृद शब्द का प्रयोग प्राप्त करते हैं। जैसे – 'श्वशुरान् सुहृदश्चैव' (१/२७), '**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (५/२९), 'सुहृन्मित्रार्युदासीन (६/९) और '**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्**' (९/१८)। सुहृद शब्द का प्रयोग लोग मित्र के अर्थ में करते हैं। सामान्यत: ऐसा प्रतीत होता है कि 'सुहृद' शब्द से मित्र-अर्थ की अभिव्यक्ति होती है या 'सुहृद' मित्र का पर्यायवाची शब्द है। यद्यपि मित्र-अर्थक शब्द के अनेकों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे – सखा, संगी, साथी, बन्धु, हितैषी, सहचर, सहयोगी, दोस्त इत्यादि। ये सभी शब्द एक-दूसरे के समानार्थी शब्द हैं। प्राय: ही इन शब्दों का उपयोग मित्र आदि के अर्थों में साहित्यकारों द्वारा किया जाता रहा है और आज भी रचनाकारों द्वारा किया जा रहा है, किन्तु मेरी दृष्टि में इन सब में कुछ सूक्ष्म भेद है और 'सुहृद' इन सबसे पृथक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है, अन्य किसी मित्रार्थक शब्द में वह सामर्थ्य नहीं है। या हो सकता है कि मेरे मन में उपरोक्त शब्दों के प्रति विभिन्न धारणायें हों, जिसे आप स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं, लेकिन यह विवेच्य वस्तु तो हो ही सकती है। क्योंकि आज की कल्पना ही कल साकार हो सकती है। पूर्व चिन्तित विचार ही कालान्तर में कार्य-रूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार यदि आप 'सुहृद' को अपने विश्लेषण की वस्तु बनाते हैं, तो हो सकता है कि एक दिन आप अपने जीवन में 'सुहृद' को प्राप्त कर लें।

हितोपदेश के सन्धि-प्रकरण में सन्धि-शास्त्र के विशेषज्ञ विद्वानों ने निम्नलिखित सोलह प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है –

कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः।।
स दृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रहः।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः।।
स्कन्धोपनेयः संधिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः।
इति षोडशकं प्राहुः संधिः संधिविचक्षणाः।।
१०७-१०९

– कपाल, उपसंहार, सन्तान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषान्तर, अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मादिष्ट, उपग्रह, परिक्रय, उच्छिन्न, परभूषण, और स्कन्धोपनेय, ये सोलह सन्धियाँ हैं।

समान बल में कपालसन्धि, कुछ देकर होने वाली उपहारसन्धि, अपनी लड़की देकर की जानेवाली सन्तानसन्धि, मित्रता कर सज्जनों के साथ की जानेवाली संगतसन्धि (यह सन्धि जीवन भर समान अर्थ, और प्रयोजन के आधार पर होती है, सम्पत्ति-विपत्ति में भी नहीं टूटती, इसे सुवर्णसन्धि भी कहते हैं।), अपने कार्यसिद्धि के लिये की गई उपन्याससन्धि, प्रत्युपकार की प्रत्याशा में की गयी सन्धि प्रतीकारसन्धि है (मैंने इसका उपकार किया है, इससे यह मेरा भी उपकार करेगा), किसी कार्य-विशेष के उद्देश से की गई सन्धि संयोगसन्धि, दोनों योद्धा मिलकर अपने कार्यसिद्धि हेतु सन्धि करें, उसे पुरुषान्तरसन्धि, अकेले काम करने की शर्त पर की गई सन्धि को दृष्टपुरुषसन्धि, भूमि का कुछ भाग देकर शत्रु को बड़ा मानते हुये मिलाने के लिये की गई आदिष्टसन्धि, अपनी सेना के साथ की जानेवाली आत्मादिष्टसन्धि, अपना सर्वस्व अर्पण कर की जानेवाली उपग्रह सन्धि, अपने खजाने का कुछ हिस्सा देकर शेष की रक्षा हेतु की जानेवाली परिक्रयसन्धि, अपनी अच्छी भूमि देकर उच्छिन्नसन्धि, भूमि से उत्पन्न लाभ देकर परभूषणसन्धि, निश्चित कुछ लाभ घर बैठे पहुँचाने की शर्त पर की जानेवाली स्कन्धोपनेयसन्धि होती है।

इन सभी सन्धियों का अति सूक्ष्म विवेचन करने से पता चलता है कि इनमें से की गई कोई भी सन्धि हमारे द्वारा परिकल्पित सुहृद की कोटि में नहीं आ सकती। इससे सुहृद की प्रप्ति नहीं हो सकती। अत: हमें सुहृद की प्राप्ति हेतु अपनी यात्रा जारी रखनी होगी।

सुहृद की प्राप्ति से जीवन की शैली बदल जाती है। जीवन में नया रंग आता है, नयी उमंग आती है, नव-व्यक्तित्व गठित होता है। नई आशा जगती है। जीवन-गति शुभद-सुखद और शिवमय हो जाती है। नव शक्ति का संचार होता है। सफलता करतलगत होकर व्यक्ति का चरण-चुम्बन करती है। वह स्व पावन व्यक्तित्व से समस्त प्राणियों में आत्मवत् अनुभव करता है। वह अपने आदर्शमय जीवन से जगत् को आदर्श की शिक्षा देता है और वह जहाँ भी जाता है, सबको सुख-शान्ति-आनन्द प्रदान करता है।

लेकिन सुहृद के पूर्व हम उन पयार्यवाची शब्दों के साहित्यिक प्रयोगों का कुछ दृष्टान्त प्रस्तुत करेंगे, तत्पश्चात् अपने समीक्ष्य विषय पर आयेंगे। सर्व प्रथम 'मित्र' शब्द को ही लें। हितोपदेशकार और अन्य आचार्यों के अनुसार मित्रता समानता में होती है, ऐसी सामान्य अवधारणा है। तभी ऋषि-प्रवर चाणक्य जी ने कहा – '**समाने शोभते प्रीतिः**' – अर्थात् समकक्ष व्यक्ति के साथ मित्रता श्रेष्ठ है। सैनिक-सैनिक में, सचिव-सचिव में, राजा-राजा में मित्रता हो जाती

है। व्यापारी-व्यापारी में, गायक-गायक में, छात्र-छात्र में, शिक्षक-शिक्षक में मित्रता हो जाती है। ऐसी मित्रता अनेकों शर्तों को लेकर होती है। जिस दिन वे शर्तें टूट जाती हैं, मित्रता भंग हो जाती है। राजनीति में प्राय: ही विभिन्न दलों में सन्धि-समझौते होते रहते हैं। अभी-अभी वे एक-दूसरे के प्रशंसक, रक्षक और सहयोगी थे, जैसे ही किसी कारणवशात् किसी एक दल के द्वारा सन्धि-प्रतिज्ञाओं का उल्लंघन होता है, तुरन्त वे परस्पर आलोचक, नाशक और शत्रु बन जाते हैं। वैसी प्रगाढ़ मित्रता भी शत्रुता में बदल जाती है। नियम में आबद्ध मित्रता की यही दशा होती है, भले ही उसके क्षेत्र अलग-अलग हो सकते हैं।

मित्र को अनेकों परीक्षाओं की कसौटी पर खरा उतरना पड़ता है, तब उसे मित्र का विश्वास प्राप्त होता है। मित्र आपत्ति आदि के क्षणों में परीक्षणीय होता है – मित्रं चापत्तिकालेषु। यदि मित्र के पास अपने मित्र की सहायता करने की समान क्षमता नहीं है, तो वह मित्र बनने के योग्य नहीं है। इसीलिये तो मनीषियों ने कहा था – **'निर्धनस्य कुतो मित्रम्'** – अर्थात् गरीबों के मित्र नहीं होते। निर्धनों की दुरावस्था से अभिभूत हो महर्षि चाणक्य ने अपनी संवदेना व्यक्त की – **त्यजति मित्राणि धनैः विहीनम्** – अर्थात् धनहीन व्यक्ति मित्रों द्वारा त्याज्य हो जाता है। इसीलिये दीनहीनों की इस दुर्दैन्य स्थिति के प्रति कवि शुद्रक ने अपने मृच्छकटिकम् नामक ग्रन्थ में मनोवेदना प्रकट की थी –

शून्यम् अपुत्रस्य गृहम् चिर शून्यं यस्यनास्ति सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशा शून्यम् , सर्वशून्यम् दरिद्रता ।।

– पुत्रहीन भवन अच्छा नहीं लगता। जिसके सन्मित्र नहीं होते वह सदा अभाव, रिक्तता का बोध करता है, मूर्ख के लिये सारी दिशायें शून्य रहती हैं और दरिद्र, धनहीन को सब कुछ शून्य लगता है।

अमित्र से अधिक कष्टकर कुमित्र-प्राप्ति है

मित्र न मिलना जितना कष्टप्रद है, उससे अधिक कष्ट कुमित्र मिलने से है। क्योंकि कुमित्र तो कभी-कभी अपने मित्र के जीवन को संकट में डालकर उसे मार ही डालता है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं –

मिलत एक दारुण दुख देही।
बिछुरत एक प्रान हरि लेही ।।

दुर्जन और कुमित्र मिलन-मात्र से दारुण दु:ख देते हैं। इसीलिये महामन्त्री चाणक्य जी कहते हैं – **वरम् न मित्रं न कुमित्र मित्रम्** – मित्र न रहे, वह अच्छा है, लेकिन कुमित्र न मिले। क्योंकि – **कुमित्र मित्रेण कुतोऽभिनिवृत्तिः** – कुमित्र से आनन्द कहाँ मिलता है? क्योंकि वह तो अपने अविवेक से सर्वदा पीड़ा ही पहुँचाता रहता है। इस प्रकार के मित्रों से सावधान रहना या उनसे मित्रता नहीं करने में ही कुशलता है।

मित्र न मिले तो कुमित्र मत बनाओ, सत्संग न मिले तो कुसंग मत करो

कुमित्र से सावधान करते हुये महान साहित्यकार आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल जी अपने 'मित्रता' नामक लेख में लिखते हैं – "एक बार एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन से ही बुरी कहावत सुनी थी। वह लाख चेष्टा करता है कि उसका ध्यान न आये, पर बार-बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद करना नहीं चाहते, वे बार-बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं।

"अत: तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को साथी न बनाओ, जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक सामान्य बात समझो और सोचो कि एकबार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा। अथवा तुम्हारे चरित्र-बल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकने वाले आगे चलकर अपने आप ही सुधर जायेंगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे-धीरे उन बुरी बातों में अभ्यस्त होते-होते तुम्हारी घृणा कम हो जायेगी। पीछे (बाद में) तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी। क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है? (तब) तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायेगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायेगी। अन्त में होते-होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अत: हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगति की छूत से बचो। एक पुरानी कहावत है –

काजल की कोठरी में कैसो ही सयानो जाय,
एक लीक काजल की लागि है पै लागि है।"*

सफलता के उत्तुंग शिखर पर आरोहण करने के आकांक्षी अभ्यर्थी को एक असफल, लक्ष्य के प्रति उदासीन, आलसी और लक्ष्य के विपरीत आचरण करने वाले अभ्यर्थी का संग नहीं करना चाहिये। अपने ईष्ट के प्रति विमुख, साधना में प्रमादी, साधनापरक नियमों के अनुशासन का पालन नहीं करने वाला और ठीक इसके विपरीत राग-द्वेष, अहंकार, छल-छद्म, मिथ्याभाषण, अनित्य-चिन्तक और लक्ष्य से च्युत, लक्ष्यविमुख तथाकथित साधक का संग नहीं करना चाहिये, ये जीवन में विष से अधिक भयंकर सिद्ध होते हैं। इसलिये सर्वाधिक उर्जा, शक्ति और समय को नष्ट करनेवाले कुमित्र और कुसंग विषवत् सर्वथा त्याज्य हैं।

जो धनवान हैं, उनको अनायस ही मित्र मिल जाते हैं। भले ही वे मित्र उनके धन का दुरुपयोग करने के लिये ही

* बाल भारती, कक्षा-८, राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, रायपुर, शिक्षा सत्र-२००४-२००५ हेतु)

क्यों न हुये हों। धनी व्यक्ति के लिये मित्र अन्वेषण की वस्तु नहीं, बल्कि मित्र-मण्डली स्वयं उसे खोज लेती है। यहाँ भी चाणक्य जी कहते हैं – यस्तु अर्थान् तस्य मित्राणि, यस्य अर्थास्तस्य बान्धवा: – जिसके पास धन है, उसी के पास मित्र और बन्धु हैं।'

किन्तु मित्रता की कसौटी केवल समानता की शर्त एवं धन-प्रधान होना नहीं है। अन्य गुणों के साथ यदि धन है, तो अधिक श्रेष्ठ है। अन्यथा इसका व्यतिक्रम भी हुआ है। मित्रता के आजीवन अन्धतापूर्ण निर्वाहक महान योद्धा एवं दानी कर्ण ने कहा है – **मित्रता बड़ा अनमोल रतन। कब इसे तौल सकता है धन।** मित्रता की तुलना धन से नहीं की जा सकती, क्योंकि वह अमूल्य है। दुर्योधन और कर्ण दोनों ही योद्धा थे, समानता थी। सुग्रीव और राम की मित्रता में भी बाह्यत: समानता है। सुग्रीव को भी पत्नी-वियोग है, राज्य नष्ट हो गया है, भयभीत किंकर्तव्यविमूढ़ एवं गिरिवासी हैं। श्रीराम भी बनवासी, एवं पत्नी वियोग से कातर हैं। इनके वियोग का दुसह वर्णन तुलसीदास जी करते हैं –

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम देखी सीता मृगनयनी।।

श्रीरामजी पशु-पक्षियों तक से पूछते हैं कि क्या तुमने हमारी प्रिय मृगाक्षि सीता को देखा है? यह उनकी कातरता का द्योतक है। राम-सुग्रीव की परिस्थितियाँ समान थीं, इसलिये मित्रता हो गयी। जैसे ही कुछ महीने बीत गये। सुग्रीव ने सीता की खोज नहीं की और श्रीराम से आकर नहीं मिले। लक्ष्मणजी उनका वध करने को उद्यत हो गये। श्रीराम-सुग्रीव की इस मित्रता को हितोपदेशकार ने प्रतिकार सन्धि माना है –

उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति।
अयं चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव।।
संधि प्रक.-११६

यद्यपि यह प्रतिकार सन्धि की श्रेणी में आता है, लेकिन मैं तो श्रीराम को समस्त प्राणियों का सुहृद ही मानता हूँ। उनकी प्रत्येक लीला में जगत का कल्याण सन्निहित है।

'सखा' शब्द मित्र का पर्याय है। विभिन्न मतों, विभिन्न व्यवसायों एवं भिन्न आचार-विचारों के लोग अपनी दैनिक गति-विधियों के बाद एक साथ किसी होटल में नाश्ता, भोजन आदि करते हुये मिल जाते हैं। या किसी कार्यक्रम में सामुहिक भोज में मिल जाते हैं। उसी से उनमें परस्पर स्नेह हो जाता है और वे एक-दूसरे के मित्र बन जाते हैं, जबकि बहुत से लोग एक-दूसरे से अपरिचित भी रह जाते हैं। कोई किसी को स्थायी रूप से न जानता है, न ही उसके अन्य किसी कार्य में सहयोगी ही हो पाता है। सभी अपने-अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं। मैं उन्हें सखा कहता हूँ। वे भी सुहृद के योग्य हमें प्रतीत नहीं होते।

'संगी' शब्द भी मित्र का समानार्थी है। अलग अलग मनोभावों एवं पृथक वेश-भूषा एवं व्यापार-वृत्ति के लोग कभी-कभी एक साथ गीत गाते हैं, भजन करते हैं, कीर्तन करते हैं, नाटक करते हैं, नृत्य संगीतादि करते हैं। उनकी भेंट उस मण्डली में भजनादि के समय ही होती है। फिर वे अपने-अपने कर्म में निरत हो जाते हैं, आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे का सहयोग-विरोध भी करते हैं। उन्हें मैं 'संगी' के रूप में गणना करता हूँ। वे भी हमारी धारणानुरूप सुहृद के अभाव की पूर्ति नहीं कर पाते।

'साथी' शब्द भी मित्र-वाचक है। विविध कार्यों से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय, विभिन्न वेश-वृत्ति के लोग बड़े-बड़े शहरों में किसी कार्य से जाते हैं। वे लोग किसी बड़े होटल, धर्मशाला या अन्य किसी सुविधाजनक स्थान में एक साथ रहते हैं। चूँकि वे एक स्थान पर एक साथ रहते हैं, भले ही वह अल्प-अवधि के लिये ही क्यों न हो, परस्पर प्रेमपूर्ण वार्तालाप भी कर लेते हैं या कोई-कोई इस कम समय में ही झगड़ा भी कर लेते हैं। फिर भी वे एक-दूसरे को मित्र मान लेते हैं। इस प्रकार के साथी भी हमें सुहृद के लिये सार्थक प्रतीत नहीं होते।

'सहचर' शब्द भी मित्रार्थ व्यवहृत होता है। भिन्न-भिन्न स्थानों से लोग राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण करते हैं, तीर्थाटन करते हैं। वे ट्रेन में या बस में यात्रा करते हैं, भले ही दो दिनों के लिये ही क्यों न हो। एक स्थान हेतु एक साथ जा रहे हैं, वे परस्पर मित्र बन जाते हैं। गन्तव्य स्थल पर पहुँचने के बाद दोनों अपनी-अपनी अभिलषित दिशा में चले जाते हैं, पुन: मिलन की संदिग्धता बनी रहती है, उन्हें मैं सहचर से अभिहित करता हूँ। ये भी मेरी धारणानुरूप सुहृद की कोटि में नहीं आ सकते।

यद्यपि उपरोक्त मित्रता भी मानव के उत्थान में समय-समय पर सहायक सिद्ध हुई है। इसमें भी समाज में अच्छे हितैषी हुये हैं और हैं, लेकिन मेरी दृष्टि में जो सुहृद की कल्पना है, जो अवधारणा है, उसे अब आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ, आप सभी इसका विवेचन करें, आत्ममन्थन करें एवं स्वयं अन्वेषण करें।

सुहृद-विवेचन

सुहृद् का प्रयोग श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी हुआ है, जो मित्रवाचक है, यथा – '**सुहृद: पश्य वसन्त किं स्थितम्**' (कुमारसम्भव ४-२६) और मेघदूतम् के चालीसवें श्लोक में तो कविकुलगुरू कालीदास का कौशल देखते ही बनता है, वे लिखते हैं – **मन्दायते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्था-कृत्या:।**

संस्कृत-हिन्दी कोषकार के अनुसार 'सुहृद' की व्युत्पत्ति

सु-हृद् है, सु उपसर्ग, अव्यय है, जिसका अर्थ होगा – अच्छा, भला, श्रेष्ठ, । हृद् – अर्थात् मन, दिल, आत्मा और विकल्प से इसका हृदय आदेश होता है। इस प्रकार सुहृद का अर्थ हुआ श्रेष्ठ, उत्तम हृदय वाला। जिसका हृदय श्रेष्ठ हो, उसे सुहृद कहते हैं। श्रेष्ठ हृदय का क्या तात्पर्य है? व्यक्ति की श्रेष्ठता उसके चरित्र से होती है, उसके सुन्दर शरीर से नहीं। सच्चरित्रता ही जीवन का वास्तविक श्रेष्ठत्व और सौन्दर्य है। गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं –

लोभ मोह जस उर न बँधाया ।
सो नर तुम्ह समान रघुराया ।।

– जिसके हृदय में लोभ-मोह नहीं रहता, हे श्रीरामजी! वह व्यक्ति आपके समान ही हो जाता है।

भगवान स्वयं लक्ष्मण जी से कहते हैं –

सरिता सर निर्मल जल सोहा ।
संत हृदय जस गत मद-मोहा ।।४/१५/४

– अहंकार और मोह-ममता से रहित संतों का, सज्जनों का हृदय, नदियों और तालाबों के निर्मल जल जैसा सुशोभित होता है।

जिसके हृदय में काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, अहंकार, ईर्ष्या आदि न हो। जिसमें प्राणी मात्र के प्रति प्रेम, करुणा, दया, दाक्षिण्य विद्यमान हो। जो जाति-पाति, धर्म-सम्प्रदाय और राष्ट्र की भौगोलिक सीमा में आबद्ध न हो। अपितु सम्पूर्ण विश्व को ही अपना समझता हो। जिसका हृदय वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओत-प्रोत हो। जो जीव मात्र से प्रेम करता हो और उनकी संवेदनाओं को अपने हृदय में अनुभूति कर, उसकी सहायतार्थ स्वयं को समर्पित कर देता हो, वह मेरी दृष्टि में श्रेष्ठ, उत्तम हृदयवाला हो सकता है, वह हमारी सुहृद की कसौटी पर खरा उतर सकता है।

सुहृद को स्वार्थी, चापलूस, ईर्ष्यालु, धूर्त और आवेगवान् नहीं होना चाहिये। उसकी कोई शर्त नहीं होनी चाहिये। किसी भी तरह की अपेक्षा और सन्दिग्धता उसे नहीं रखनी चाहिये। क्योंकि ऐसे दुर्गणयुक्त मित्रों के पूर्णत: त्याग का निर्देश हमारे पूर्व आचार्यों एवं समाज-हितैषियों ने दिया है। चाणक्य जी ने तो यहाँ तक कहा है कि – वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् – अर्थात् विषवत् ऐसे मित्र का त्याग कर देना चाहिये।

''सुहृद की परीक्षा की कसौटी है – प्रेम और विश्वास। वह अपने मित्र से निश्छल प्रेम करता हो। तत् मित्र: यत्र विश्वास: – वही सुहृद है, जो अपने मित्र पर पूर्णत: विश्वास करता हो, अन्यथा अविश्वसनीय मित्रता किस काम की? **तत् सौहार्द यत्क्रियते परस्मिन्** – वही मित्रता श्रेष्ठ है, जो दूसरे से प्रीति कर सके। बिना निष्कपट प्रेम की मित्रता सम्यक् त्याज्य है। कहा भी है – निस्स्नेहाबान्धवांस्त्यजेत्। जो मित्र का हितैषी नहीं है, जो मित्र का कल्याण-चिन्तन नहीं करता, जो मित्र की प्रगति में यथाशक्ति सहायता नहीं करता, वह कभी भी सुहृद नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी ऐसे लोगों का 'महापापी' से सम्बोधन करते हैं –

जो न मित्र दुःख होहि दुखारी ।
तिनहि बिलोकत पातक भारी ।।

– अर्थात जो मित्र के दु:ख से दुखित नहीं होता, उसे देखने में महापाप लगता है।

अत: सुहृद की अपने मित्र के प्रति आत्मीयता होनी चाहिये। उसके मंगल-विधान हेतु अपने जीवन को समर्पित करने वाला होना चाहिये। **राजा-प्रजा जेहि रुचै सीस देई ले जाय** – उसे इस प्रकार का प्रेमी होना चाहिये। उसे मित्र के सुख-दु:ख सबमें समान सहभागी होना चाहिये। नीतिशतक के प्रणेता भर्त्तृहरि जी कहते हैं – **तत् मित्रं आपदि सुखे समक्रिये च** – अर्थात् वही मित्र है, जो सुख-दु:ख में समभागी है। सुहृद में सन्मित्र के सभी सदगुण होने चाहिये। जैसा कि भर्त्तृहरि जी कहते हैं –

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति ।
आपदगतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्र लक्षणमिदं निगदन्ति सन्तः ।।

– अर्थात् जो मित्र पापों से निवारण तथा कल्याण-कार्य में संयोजित करता हो, गोपनीय तथ्यों को छिपाकर गुणों को प्रकाशित करता हो, विपत्ति में पड़े हुये को न छोड़ता हो, समय से सामर्थ्यानुसार समुचित धनादि देकर मित्र की सहायता करता हो, उसे ही सज्जनों ने 'सन्मित्र' 'सच्चे मित्र', की संज्ञा प्रदान की है।

'सुहृद' का प्रधान सदगुण होना चाहिये कि वह अपने मित्र से कोई प्रत्याशा न रखता हो। अपेक्षा, प्रत्युपकार की भावना मित्रता में विषवत् कार्य करती है। अपेक्षित वस्तु या सहयोग जब एक मित्र को अपने मित्र से नहीं मिलता है, तब वह उसका शत्रु बन जाता है। इसलिये सुहृद को निरपेक्ष होना चाहिये। प्रथमोक्त श्रीमद्भगवद् गीता के चारों श्लोकों में सुहृद का अर्थ श्री शंकराचार्य जी ने अपने गीता भाष्य में 'प्रत्युपकार न चाहकर उपकार करने वाला' ही किया है।

यदि हम थोड़ी गम्भीरता से विचार करें, तो पायेंगे कि समाज में लोग बिना किसी आशा के किसी की सहायता नहीं करते। राजनीतिक लाभ के लिये, मत-प्राप्ति हेतु कुछ लोग सेवा करते हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा एवं दूसरों को अपने वश में करने के लिये कुछ लोग सहयोग करते हैं। जहाँ धन-मान-सम्मान, पद, शक्ति की प्राप्ति हेतु लोग सहयोग करते

हैं, वे लोग कभी भी सुहृद नहीं हो सकते। मैंने सेवा-क्रम में भारत-भ्रमण के दौरान वैसे भी गाँवों को देखा था, जहाँ न जाने के लिये सड़क, न बिजली, न कोई चिकित्सालय आदि की व्यवस्था थी। वे आधुनिक भारत से कितने वर्ष पिछड़े हुये थे। कितने शासक-प्रशासक आये और गये किन्तु उनके रहन-सहन और जीवन में कोई परिवर्तन नहीं था। उन निर्धनों के लिये तो उनका पौरुष और ईश्वर ही सहायक था। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि उन निर्धनों से किसी के स्वार्थ की पूर्ति नहीं हो सकती, इसलिये अब तक वे त्याज्य थे। अत: लोभ, अहंकार-वर्धन, पद-प्राप्ति, अपनी जय-जयकार कराने, आदि की प्रत्याशा में की गई सेवा सुहृद की कोटि में नहीं आती, क्योंकि इससे बहुत से लोग सेवा से वंचित हो जाते हैं। लेकिन संसार में तो लोग सेवा प्राय: उपरोक्त दृष्टि से ही करते हैं और इसके माध्यम से ही अपना आत्मविकास करते हैं। यह विकास का एक सोपान है। वह कभी भी निन्द्य, त्याज्य नहीं है। यद्यपि इसके अपवाद भी हैं। ऐसी अनेकों समाजसेवी संस्थायें हैं, जो निरपेक्ष दृष्टि से सेवा कर रही हैं और इससे मानव का बहुत कल्याण हो रहा है।

एक मात्र परमात्मा ही सुहृद हैं

मेरी धारणा के अनुसार एकमात्र परमात्मा ही प्राणीमात्र के सुहृद हो सकते हैं। संसार के सभी चर-अचर प्राणी उन्हीं की सन्तान हैं। उनका पालन-पोषण और रक्षण वे ही निरपेक्ष भाव से करते हैं। वे अपनी करुणा कटाक्ष से अकारण कृपा कर उन्हें दु:खों से मुक्त करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गोप-ग्वालों और सुदामा जैसे दरिद्र ब्राह्मण को अपना मित्र बनाया। यहाँ मित्रता की कोई शर्त लागू नहीं। गीता में भगवान स्वयं कहते हैं कि मैं समस्त प्राणियों का सुहृद हूँ – सुहृद: सर्वभूतानाम् और गतिभर्ता प्रभु: साक्षि: निवास: शरणं सुहृत। अकारण करुणालय भगवान की यही महानता है। भगवान श्रीराम ने वानर-भालुओं और गुहक निषाद को अपना सखा बनाया। ये दोनों ईश्वरावतार बिना हिचक के कहीं भी अपने मित्र के रूप में इनका परिचय देते हैं और वैसा सम्मान करते हैं। राम की अकारण कृपा का दृष्टान्त गोस्वामी तुलसीदास जी कवितावली में प्रस्तुत करते हैं –

जहाँ जम-जातना घोर नदी,
भट कोटि जलच्चर दन्त टेवैया।
जहाँ धार भयंकर, वार न पार,
न बोहितु नाव, न नीक खेवैया।
'तुलसी' जहँ मातु-पिता न सखा,
नहिं कोऊ कहूँ अवलम्ब देवैया।
तहाँ बिनु कारन रामु कृपाल,
बिसाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया।। ७/५२

– जहाँ यम की यातना देनेवाले करोड़ों यमदूत हैं, घोर वैतरणी नदी है, जिसमें तीक्ष्ण दाँतों वाले जल-जन्तु हैं, जिसकी भयंकर तेज धारा है, जिसका कोई आर-पार किनारा नहीं है, जिसमें न जहाज है, न नाव है और जहाँ कुशल नाविक भी नहीं है, जहाँ माता-पिता, बन्धु, सखा कोई भी सहारा देने वाला नहीं है, वैसी विषम परिस्थिति में बिना कारण के करुणाकर भगवान श्रीराम अपनी विशाल भुजा को बढ़ाकर उस व्यक्ति को यम-यातना रूपी नदी से बाहर निकालकर उसे शान्ति प्रदान करते हैं।

इसीलिये तुलसीदास जी प्राय: ही स्वीकार करते हैं कि मेरे तो सब प्रकार से एकमात्र सुहृद भगवान श्रीराम ही हैं –
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

श्री लक्ष्मण जी भगवान श्रीराम से कहते हैं –

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान।।
२/२२७

– हे नाथ! आप सबके परम सुहृद (बिना ही कारण सबका हित करने वाले हैं), सरल हृदय तथा शील और स्नेह के भण्डार हैं, आपका सभी पर प्रेम और विश्वास है और अपने हृदय में सबको अपने समान ही जानते हैं।

श्री भरत जी कहते हैं –

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी।
पूज्य परमहित अन्तरजामी।।२/२९७/१

– हे प्रभु आप माता, पिता, सुहृद, गुरु स्वामी, पूज्य परम हितैषी और अन्तर्यामी हैं।

स्वयं भगवान श्रीराम सीताजी को वन-गमन के समय परामर्श देते हैं –

सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि।। २/६३

– स्वाभाविक ही हित चाहने वाले गुरु और स्वामी की शिक्षा को जो शिरोधार्य कर नहीं मानता, वह हृदय से पश्चाताप करता रहता है। उसका कल्याण नहीं होता।

सन्त श्री यामुनाचार्य जी ने अपने प्रभु से प्रार्थना की थी –

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्,
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरसि गतिश्चासि जगताम्।

– हे प्रभु! तुम पिता, माता, पति और पुत्र हो। तुम प्रिय सुहृद्, मित्र, गुरु और जगत् की गति भी हो।

श्रीमद्भागवत के गजेन्द्र मोक्ष में भी सुहृद शब्द का प्रयोग हुआ है – **भूतात्म भूता: सुहृद: स मे गति:**। यहाँ भी सुहृद 'अकारण हितकारक' अर्थ में प्रयुक्त है।

इस प्रकार एक परमात्मा ही हमारे सुहृद हैं, जो निष्काम, प्रत्युपकाररहित हमारा कल्याण करते हैं।

परमात्मा का साक्षात्कार किये हुये सन्त-महात्मा, जो

निर्वैर, प्रशान्तचित, सदा दिव्यभाव में समाहित इस धराधाम पर विचरण करते रहते हैं, जिनके चरणों की धूलि हेतु स्वयं भगवान भी तरसते रहते हैं, वैसे ईश्वरमय सन्त-महात्मा भी प्राणियों के सुहृद हैं।

अत: सुहृद को निष्काम प्रेमी, नि:स्वार्थ सेवक और निष्कारण प्रत्युपकाररहित सहायक, सत्पथ प्रदर्शक एवं मंगलकारी होना चाहिये। किसी-किसी ने तो यहाँ तक कहा कि सुहृद को मरणोपरान्त भी साथ में जाना चाहिये और वह एक धर्म ही है – **एक एव सुहृद धर्मः निधनेप्यनुयाति यः** – अर्थात् धर्म ही सच्चा सुहृद है, जो निधनोपरान्त भी साथ-साथ जाता है।

सुहृद की प्राप्ति दुरूह और दुष्प्राप्य होते हुये भी असम्भव एवं अप्राप्य नहीं है। क्योंकि किसी अज्ञात मनीषी के ये वचन हैं –

विरला जानन्ति गुणान्
विरला कुर्वन्ति निधने स्नेहम्।
विरला परकार्यरताः
परदुःखेनापि दुःखितः विरला ।।

बिरले व्यक्ति ही गरीबों से प्रेम करते हैं, बिरले ही कोई परोपकार करता है और कोई बिरला व्यक्ति ही दूसरे के दुःख से दुःखित होता है।

सुहृद की प्राप्ति दुर्लभ है, लेकिन सम्भव है। मुझे उसी सुहृद की खोज है, जो संसार के दीन-दुःखी, शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक वेदना से व्यथित प्राणीमात्र का निष्काम, निरपेक्ष, निष्कारण और शर्तहीन सतत् अबाध रूप से अहर्निश सहयोग करता रहे। उन्हें प्रेम, शान्ति एवं आनन्द के पथ पर अग्रसर करता रहे। ऐसे सुहृद ही संसार की समस्त बाधाओं का शमन कर सकते हैं। भर्तहरि जी तो यहाँ तक कहते हैं –

यदि सुहृद दिव्यौषधैः किं फलम् – अर्थात् सुहृद दिव्य औषधि है। इस महौषधि से संसार बदल जायेगा। मानव-जीवन उन्नत, परस्पर प्रेम-विनिमय कारक एवं सदाचारी हो जायेगा। जीवन सार्थक एवं धन्य हो जायेगा।

मैं उसी सुहृद की खोज में हूँ। जिस दिन मुझे उस प्राणप्रभु परमात्मा रूपी सुहृद की उपलब्धि हो जायेगी, उस दिन मेरी यह 'सुहृद्-खोज' की यात्रा समाप्त हो जायेगी। अभी तो मेरी हृदय-वीणा में यही झंकृत होता रहता है –

मेरो मन यहि रहि-रहि के भावै ।
है कोई इस जग में मेरो, जो सुहृद सों मिलावै ।।

❑❑❑

पुरखों की थाती

तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गः तृणं शूरस्य जीवितम् ।
उदारस्य तृणं वित्तं निःस्पृहस्य तृणं जगत् ।।

– ब्रह्मज्ञ पुरुष के लिये स्वर्ग तिनके के समान तुच्छ है, शूर-वीर के लिये जीवन तिनके के समान तुच्छ है, उदार व्यक्ति के लिये धन तिनके के समान तुच्छ है और कामनारहित व्यक्ति के लिये यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड ही तिनके के समान तुच्छ है।

तीक्ष्णधारेण खड्गेन वरं जिह्वा द्विधा कृता ।
न तु मानं परित्यज्य देहि-देहीति भाषितम् ।।

– बल्कि तलवार की तीक्ष्ण धार से अपनी जिह्वा के दो टुकड़े कर लेना अच्छा है, परन्तु अपने स्वाभिमान को त्यागकर किसी के सामने हाथ फैलाना उचित नहीं।

तावन्महतां महतीं यावत् किमपि न याच्यते लोकम्।
बलिमनुयाचन-समये श्रीपतिरपि वामनो जातः ।।

– महान् लोगों की महत्ता तभी तक बनी रहती है, जब तक कि वे किसी के सामने हाथ नहीं फैलाते। भगवान विष्णु को भी बलि के समक्ष याचना करते समय वामन या बौना बन जाना पड़ा था।

त्यक्त्वात्म-सुख-दुःखेच्छां सर्व-सत्त्वगुणैषिणः।
भवन्ति पर-दुःखेन साधवोऽत्यन्त दुःखिनः ।।

– पूर्ण सत्त्वगुण की इच्छा रखनेवाले महात्मागण, अपनी स्वयं की सुख-दुःख की इच्छा का तो परित्याग कर देते हैं, परन्तु दूसरों के दुःख से द्रवित होकर अत्यन्त दुःखी भी हो जाते हैं।

ते साधवो भुवन-मण्डल-मौलिभूता
ये साधुतां निरुपकारिषु दर्शयन्ति ।
आत्म-प्रयोजन-वशीकृत-खिन्न-देहः
पूर्वोपकारिषु खलोऽपि हि सानुकम्पः ।।

– वे ही महात्मा हैं, वे ही पृथ्वी-मण्डल के शिरोमणि हैं, जो अपना अहित करनेवालों के प्रति भी साधुता दिखाते हैं। वे लोग आत्मानुभूति के लिये शरीर को थकाकर वश में कर लेते हैं, परन्तु अपने प्रति अपकार करनेवाले अपराधी के प्रति भी कृपा भाव रखते हैं।